रचयिता
मुनि नथमल

● ● ● श्री तेरापंथ-द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में ● ● ●

अश्रु-वीणा

अनुवादक
मुनि मिट्ठालाल

॥ सस्कृत साहित्य ग्रन्थमाला २ रा पुष्प ॥

प्रकाशक	मुद्रक
आदर्श साहित्य संघ	रैफिल आर्ट प्रेस,
चूरू	३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,
(राजस्थान)	कलकत्ता-७
प्रथम सस्करण	मूल्य
१०००	१ रुपए ५० नए पैसे

सकलयिता
छगनलाल शास्त्री

समर्पणम्

कष्टापाते प्रणिहितधियो नो जहत्यात्मनिष्ठां,
येषां निष्ठा भवति न चला वाति वामेऽपि वाते।
ते सर्वेऽपि प्रकृतिगुरवः पुष्पमालामिवार्घ्यां,
स्वीकृत्येमां मम लघुकृतिं कुर्वतां मां कृतार्थम्॥

समर्पण

जो स्थितप्रज्ञ कष्ट आने पर भी आत्म-निष्ठा नहीं छोड़ते, प्रतिकूल वातावरण से भी जिनका धीरज नहीं डोलता और जो स्वभाव से ही महान् है, वे मेरी इस छोटी सी कृति का अर्घ्य पुष्पमाला के रूप में स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें।

प्रस्तावना

उपनतं महदिदं मे सौभाग्यम्, अपरिमेया चानन्दलहरी। मदीयं स्वान्ततटाकमाप्लाव्य पारिप्लवीकरोति यदाचार्यवर्य श्री तुलसीगणिपादानामन्तेवासिभिः कृपास्पदीभूतैर्मुनिश्रीनथमलपादैर्विरचितामश्रुवीणानामिकां काव्यकलिकामामूलचूलं स्वयं कथयितुर्मुखकमलाच्छ्रोतुमवसरमहमलभे। मन्दाक्रान्तया विरचितमिदं शतश्लोकमयं खण्डकाव्यं प्राचीनैः सुगृहीतनामधेयैर्विश्वविश्रुतकीर्तिभिर्भर्तृहरिप्रभृतिभी रचितानि शतककाव्यानि प्रतिस्पर्द्धितुमलं भवति। महाकविकालिदासोपज्ञं मदाक्रान्ताच्छन्द इति प्रत्नतत्त्वकल्पनारसिकाः समाचक्षते। एतेनैव वृत्तेन तेनैव कविकुलमूर्धन्येन विरचितं मेघदूतं नाम खण्डकाव्यमद्यापि जगत्यप्रतिहतप्रचारं वरिवर्ति। एतस्यैव काव्यस्यैकैकं पादं गृहीत्वा नेमिदूतं नाम धर्मकाव्यं विरचितमार्हतसिद्धान्तप्रचिख्यापयिषुणा जैनकविना श्रीमता श्रीविक्रमेण। अधुना मुनिवरेण श्रीनथमलमहाभागेन विरचितमिदं काव्यं जैनसाहित्ये प्रतिविशिष्टं पदमधिकरिष्यतीति न समातिवादः। शब्दसम्पदाऽर्थगाम्भीर्येणाऽहमहमिकया समापतद्भिः शब्दार्थालङ्कारैर्विभूषितं भक्तिरसोपबृंहितमुदात्तं कथावस्तु समालम्ब्य प्रवृत्तमिदं खण्डकाव्यं सहृदयानां काव्यामोदिनां तत्त्वजिज्ञासूनां धर्मरहस्यबुभुत्सूनां च सममेव पूजास्पदं भविष्यतीति मम निर्विचिकित्सा मनीषा। अस्मिन् विकराले काले विद्वांसोऽप्यर्थकामचिन्तया व्यामुह्यमाना नीरन्ध्रं शास्त्रचिन्तां कर्तुं यावदपेक्षितं मनःस्थैर्यं नासादयन्ति। अतः खल्वेतादृशकाव्यनिबन्धने न समर्था भवन्ति। प्रस्तुतस्य

काव्यस्य रचयिता खलु रागद्वेषपराङ्मुख ऐहिकसुखनिरभिलाष सन्नतं विद्यानुशीलनेन तपश्चरणेन च लब्धसत्त्वोत्कर्ष एकाग्रेणैव मनसेदं काव्यं व्यरचयत्। अतः खल्वस्मिन् काव्ये सर्वेषां गुणानां सामानाधिकरण्यं सुलभं समपादि।

प्रस्तुतस्य खलु काव्यस्याधिकृतं कथावस्तु जैनागमेभ्यः कवयित्रा समग्राहि। तस्य खलु वर्णनं स्वयं कविनैव पृथगुपन्यस्तम्। तत एव सर्वं सदाकलनीयम्। अतस्तत्र न व्यापार्यते लेखनी। केवलं समासेनेदं प्रस्तूयते मयका। महतां खलु समुदाचारो न लौकिकेन मानदण्डेन विचारणीयो भवति। तत्र पर्यनुयोगस्य नियोगस्य वा सर्वथाऽनवसरः। अत खलु कथमन्तिमतीर्थङ्कराणां श्री महावीरस्वामिनामीदृशोऽभिग्रहः समजनीति न प्रष्टव्यम्। फलं त्वस्माभिरत्र समीक्ष्यते—राजपुत्री चन्दनबाला वन्दीग्राहं गृहीताऽलन्तिकीं दुर्दशां समासादिता समुद्धरणीयासीत्। सत्यपि दैवस्य प्रातिकूल्ये दुःखदुर्दिनेन समाच्छन्नेऽन्तरिन्द्रिये श्रद्धाबीजमच्छिन्नमूलं व्यराजत तस्याः। अतः खलु महावीरस्वामिना प्रसादस्तया समप्रापि। अभिग्रहस्य यान्यपेक्षितानि लक्षणानि, तानि सर्वाणि तस्यामुपलब्धानि केवलमश्रुपूर्णं विलोचनं विहाय। भिक्षार्थं तस्याः समीपमुपनते महावीरस्वामिनि सा खलु सहजया श्रद्धया महापुरुषभक्त्या चावर्जितहृदया हर्षस्य काष्ठामन्वभवत्। अश्रूणि विलीनानि। अतः खलु प्रत्यावृत्ते पुरुषोत्तमे नितरां शोकेन परिदूयमानचित्ताऽश्रूणां प्रवाहं स्वत प्रसरद्रूपमवरोद्धुं नालमभूत्। अश्रुप्रवाहमेव दूतं कृत्वा परचित्तज्ञानिनं महावीरस्वामिनं प्रति सन्देशं प्रेषितवती। तस्याः खलु सहजं प्रणयं स्वाभाविकीं श्रद्धामतिशयितां भक्तिं चावगम्य महावीरस्वामिना पुनस्तत्सकाशं प्रत्यावृत्तेन तस्या हस्तान्माषा गृहीताः। साऽपि कृतार्था समजनि। सर्वा सम्पत्तत्क्षणमेव तया लब्धा। सर्वाः खलु विपदो निमेषमात्रेणैवास्तमुपागताः। महापुरुषस्य प्रसादलाभेन किंवा दुरधिगमं भवेत्। ऐहिकं पारत्रिकञ्च हितं कल्याणं सुखं क्षेमं सर्वमेकपदे समधिगतं दुर्गतया राजकुमार्या। एतदेव कथावस्त्वस्य खण्डकाव्यस्य।

ये खल्वत्राधीतिनो भविष्यन्ति, तेषामप्यायतिः कुशला क्षेमा कल्याणी च भविष्यतीति कः संशयस्यावसरः।

अधिकोक्त्या केवलं स्वकीयमसामर्थ्यमेव समुन्मिषितं भविष्यति। गृहिणो वयं केवलं संस्कृतशास्त्राध्ययनाध्यापने चाधिकृता इति महतामनुग्रहभारः समापतितोऽस्मच्छिरसि। स्वयमनधिकारितामवगच्छद्भिरपि 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' इति न्यायमनुस्मरद्भिर्यत् किञ्चिदत्रासंलग्नकमलेखि, तत् क्षमाधनैर्विद्वद्भिरेतत्काव्यपाठकैरनुग्रहबुद्ध्या यावदुपादेयं तावदुपादातव्यम्। एतस्य काव्यस्य सम्यग् गुणकीर्तनासमर्था वयम्। यदि कस्यचिदत्र चित्तं श्रद्धया समावर्जितं भवेत्तदात्मानं कृतार्थं मंस्यामह इत्यलं प्रपञ्चेनेति निवेदयति विदुषामाश्रवः—

कलिकाता

दिनांक ३०-६-५६

श्री सातकड़िमुखोपाध्यायशर्मा

एम० ए०, पी० एच-डी

निदेशक :—नवनालन्दामहाविहारस्य।

(नालन्दा—बिहार)

भूतपूर्वाध्यक्ष :—कलिकाताविश्वविद्यालय-

संस्कृतविभागस्य।

प्रस्तावना

आचार्यवर्य श्री तुलसीगणी के कृपापात्र अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी द्वारा विरचित "अश्रु वीणा" नामक काव्य स्वयं कवि के मुखारविन्द से सुनने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ, इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ तथा मेरे अन्तःकरण को इससे अपरिमित आनन्द मिला। मन्दाक्रान्ता छन्द में रचा गया यह सौ श्लोकों का खण्ड काव्य है, जो प्राचीन ख्यातनामा विश्व विश्रुत कीर्ति भर्तृहरि आदि द्वारा रचित शतक काव्यों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने में सक्षम है। मन्दाक्रान्ता महाकवि कालिदास का अभीप्सित छन्द है, प्राचीन साहित्य के मर्मज्ञ यों कहते हैं। इसी छन्द में कविकुल शिरोमणि ने 'मेघदूत' नामक खण्ड काव्य की रचना की। आज भी संसार में उसका व्यापक प्रचार है। इसी काव्य का एक-एक चरण लेकर आर्हत् सिद्धान्त प्रकाशित करने के आकांक्षी जैन कवि श्री विक्रम ने 'नेमिदूत' नामक धर्मकाव्य रचा। इस समय मुनिवर श्री नथमलजी द्वारा विरचित यह काव्य (अश्रुवीणा) जैन साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा, ऐसा कहने में मुझे अतिरंजन नहीं लगता। प्रस्तुत काव्य में जहाँ एक ओर शब्दों का वैभव है, वहाँ दूसरी ओर अर्थ की गम्भीरता है। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार एक दूसरे से बढ़े-चढ़े हैं। भक्ति-रस से परिपूर्ण, उदात्त कथावस्तु का आलम्बन कर यह लिखा गया है। सहृदयों, काव्यानुरागियों, तत्त्वजिज्ञासुओं, धर्म का रहस्य पाने की आकांक्षा वालों—निःसन्देह इन सबमें समान रूप से यह आदर प्राप्त करेगा। आज का समय बड़ा भयावह है। विद्वान् भी अर्थ और काम की चिन्ता में व्यामूढ़ बने हैं। वे गहन शास्त्र चिन्ता के लिए मन की जैसी स्थिरता अपेक्षित है, वैसी पा नहीं रहे हैं। इसीलिए वे इस तरह के काव्यों के मर्जन में समर्थ नहीं हो पाते। प्रस्तुत काव्य के रचयिता राग और द्वेष से पराङ्मुख हैं, उन्हें ऐहिक सुख की अभिलाषा नहीं है, वे

निरन्तर विद्यानुशीलन और तपश्चरण में लीन रहते हैं। इससे उन्होंने अन्तःकरण का उत्कर्ष साधा है। यह काव्य उनके एकाग्रचित्त की सृष्टि है। यही कारण है कि इस काव्य में समस्त गुण समान रूप से सुलभ हो सके हैं।

इस काव्य की कथावस्तु कवि ने जैन आगमों से ग्रहण की है। उन्होंने स्वयं इसका पृथक् विवरण दे दिया है, जिसे वहीं से जाना जा सकता है। अतः इस विषय में मैं अधिक लेखनी चलाऊँ, यह अपेक्षित नहीं। केवल संक्षेप में मैं यों प्रस्तुत करना चाहूँगा :—

"महापुरुषों की आचार-विधि लौकिक मापदण्ड से नहीं मापी जाती। वहाँ पर्यनुयोग या नियोग का सर्वथा अवसर नहीं रहता। इसलिए अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने ऐसा अभिग्रह क्यों किया? यह पूछने की बात नहीं। इसका जो फल हुआ, वह हमारे सामने है ही—अत्यन्त दुर्दशा में पड़ी हुई तथा बन्दी की हुई चन्दनबाला का उद्धार जो करना था। यद्यपि उसका भाग्य प्रतिकूल था, उसका मन दुःखमय दुर्दिन के अँधियारे से ढका था, पर श्रद्धा का बीज उसके हृदय में दृढ़ता से जमा था। इसलिए उसने भगवान् महावीर का अनुग्रह प्राप्त किया। अभिग्रह के जो-जो लक्षण अपेक्षित थे, वे सब उसमें उपलब्ध थे, केवल आँखों में आँसू नहीं थे। भगवान् महावीर के भिक्षार्थ उसके समीप आने पर स्वाभाविक श्रद्धा और महापुरुष के प्रति भक्ति से उसका हृदय खिल उठा, वह हर्ष-विभोर हो चली, आँसू सूख गए। तब पुरुषोत्तम महावीर वहाँ से लौट चले। उसका चित्त अत्यधिक शोक से विगलित हो गया। स्वयं आँसुओं का प्रवाह फूट पड़ा, जिसे रोकने में उसने अपने आपको असमर्थ पाया। इस अश्रु-प्रवाह को अपना दूत बनाकर चन्दनबाला ने पर-चित्त-ज्ञानी भगवान् महावीर को अपना सन्देश भेजा। भगवान् लौटे; उसका सहज विनय, स्वाभाविक श्रद्धा तथा अतिशय भक्ति जान उन्होंने उसके हाथ से उबले हुए उड़द ग्रहण किए। चन्दनबाला ने अपने को कृतकृत्य माना। उसने उसी क्षण मानों सब सम्पदाएं हस्तगत कर लीं। पल भर में सब विपत्तियां निरस्त हो गईं। महापुरुष का अनुग्रह मिलने पर क्या दुष्प्राप्य रहता है? दुःख में पड़ी राजकुमारी ने ऐहिक, पारलौकिक हित, कल्याण, सुख, क्षेम—सब एक ही साथ पा लिया। इस खण्ड काव्य की कथावस्तु यह है। जो इसका अध्ययन करेंगे, निःसन्देह उनका भविष्य सुखमय, उज्ज्वल और श्रेयस्पूर्ण बनेगा।

इस सम्बन्ध में अधिक कहने की अपेक्षा नहीं, ऐसा करने से अपना असामर्थ्य ही प्रगट होगा। संस्कृत विद्या के अध्ययन-अध्यापन के अधिकारी होने के नाते हम जैसे लौकिक पुरुषों के सिर पर गुरुजनों का अनुग्रह भार आ पड़ा। स्वयं अपनी अनधिकारिता को जानते हुए भी "गुरुजनों की आज्ञा बिना ननु-नच के पालनी चाहिए" इस नीति-वाक्य को स्मरण कर जो कुछ यहाँ हमने बिखरे रूप में लिखा, उसमें जितना ग्राह्य हो, क्षमाशील विद्वान् और इस काव्य के पाठक ग्रहण करें। इस काव्य के गुणों को सम्यक्तया प्रगट करने में हमारी क्षमता नहीं है। अधिक विस्तार में न जा हमारा इतना ही निवेदन है कि इसे पढ़कर किसी का चित्त श्रद्धा से निर्मल बना तो हम अपने आपको कृतार्थ मानेंगे।

श्री सातकड़ि मुखोपाध्याय शर्मा
एम० ए०, पी० एच-डी
डाइरेक्टर—नव-नालन्दा महाविहार,
नालन्दा (विहार)
(भूतपूर्व अध्यक्ष—संस्कृत विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय

दिनाङ्क ३०-६-५६
कलकत्ता

आमुखम्

एकदा कौशाम्बी-नरपतिना महाराजशतानीकेन चम्पायामाक्रमणमकारि। चम्पाधिपतिर्दधिवाहनो युद्धे मृत्युमवाप। शतानीकेनादिष्टं पुर्यध्वंसाय। सैनिका उच्छृंखलभावेन नागरिकान् संत्रासयामासुः। अपजह्रुः केचिद् धनं, केचिदाभूषणानि, केचिच्च वनिताजनम्। एको रथिको दधिवाहनस्य राज्ञीं धारिणीं, राजकुमारीं वसुमतीञ्चापजहार। धारिणी वैशालीगणप्रमुखस्य चेटकस्य पुत्री, भगवतो महावीरस्य मातुलपुत्री चाभूत्। तस्याः सतीत्वं सुविश्रुतम्। तया रथिकस्य भोगेच्छापूर्तेरवसरोऽपि न दत्तः। तस्य विकार-पूर्णामाकृतिं चेष्टाञ्च निभाल्य सहसैव जिह्वामाकृष्य प्राणोत्सर्गं चकार। रथिकः स्तब्धतां जगाम। वसुमती चापि मातुरध्वानमनुसरेत् ? इति संशयानः कम्पमानाधरो मृदुस्वरमनुरुरोध—भगिनि! आश्वस्ता भव, विलीना मे कामवासना, कौशाम्बीं गत्वा त्वां विक्रेतुमिच्छामि। नान्यास्ति कापि विकृतिरत्र। रथिकेन सा दासविपणौ विक्रयं नीता। ततः सा कयाचिद् वेश्यया क्रीता। असौ वेश्याकुलस्य निन्दितं कर्म कथमपि न स्वीचकार। तदा पुनरपि तयाऽसौ दासविपणौ विक्रीता। ततो धनावह-नाम्ना श्रेष्ठिना क्रीता। तस्यालये दास्याःकर्म कुर्वती सा समयमतिवाहयामास। तेन तस्या नाम चन्दनबालेति चक्रे। एकदा धनावहस्य पत्न्या इति सन्देहोऽभूत्—मम पतिरिमां पत्नीरूपेण स्वीकरिष्यति। धनावहः प्रयोजन-वशात् क्वापि बहिः प्रदेशे गतः। तत्पत्नी चावसरं विलोक्य चन्दन-बालायाः शिरोमुण्डनमकार्षीत्। करौ चरणौ च शृंखलानिगडितौ कृत्वा एकस्मिन् विजनेऽपवरके स्थापयित्वा च तामन्यत्र जगाम।

इतो भगवान् महावीरः कौशाम्ब्या गृहं-गृहं पर्यटन्नपि भिक्षां नादत्ते। पञ्चमासाः पञ्चविंशतिदिनोत्तरा व्यतीताः। भगवान् षड्विंशतितमे दिवसे

धनावहस्य गृहे प्राविशत्। भगवान् ददर्श—अभिग्रहस्य पूर्तिरत्र भविष्यति भगवतोऽभिग्रह आसीत् :—

"क्रीता कन्या नृपतितनया मुण्डिता चिह्निताऽपि,
पार्श्वैर्बद्धा करचरणयोस्त्र्याह्निकक्षुत्क्षमा च।
संभिन्नाङ्गा व्यथितहृदया देहलीं नाम पद्भ्या-
मध्याह्नोर्ध्वं प्रतनु भजती सूर्पकोणस्थमाषान्॥
दद्याद् भोक्ष्ये ध्रुवमितरथा नाहरिष्यामि किञ्चित्,
षण्मासान्तं सुविहिततया नैव पास्यामि नीरम्।
श्रुत्वाप्येतत् सतनुमनसो वेपनं तद्व्रतं य—
च्छ्रद्धा-रेखा भवति खचिता नैकरूपा जनानाम्॥"

सद्य समागतेन धनावहेन द्वारमुद्घाट्य त्रिदिनतो बुभुक्षितायाश्चन्दनबालायाः पुरतः सूर्पकोणे माषान् संस्थाप्य लोहकारमानेतुं बहिर्गतम्। इतो भगवत. समागमनमजनि। चन्दनबाला भगवन्तं दृष्ट्वा हर्षोत्फुल्ला बभूव। अभिग्रहस्य पूर्णे सर्वे प्रकाराश्चोपलब्धा अन्यत्राश्रुभ्यः। भगवान् चचाल। अश्रुधारा प्रस्फुटिता। भगवान् पुनरायातो भिक्षाञ्च जग्राह। इयमेव चन्दनबाला अभूद् भगवतः साध्वीसंघस्य अधिनेत्री, षट्त्रिंशत् सहस्रसाध्वीनां प्रमुखा।

अस्य काव्यस्य हिन्दीभाषायामनुवादमकार्षीत् मुनिः श्रीमिट्ठालालः। अनुवादस्य कार्यं कदाचिद् दृष्ट्या मूलरचनातोऽपि भवति दुष्करम्। दुष्करेऽपि सफलत्वमत्र लब्धमिति प्रतीयते।

ज्येष्ठ शुक्ला ११, सं० २०१६ — मुनिः नथमल :

महासभाभवनम्, कलिकाता।

आमुख

एक बार कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पा पर आक्रमण किया। चम्पा के राजा दधिवाहन की युद्ध में मृत्यु हुई। शतानीक ने सैनिकों को नगर लूटने का आदेश दिया। सैनिकों ने जनता को लूटना आरम्भ किया। कुछेक ने धन लूटा, कुछेक ने जेवर लूटे और कुछेक ने स्त्रियों को हस्तगत किया। एक रथिक ने दधिवाहन की रानी धारिणी और राजकुमारी वसुमती का अपहरण किया। धारिणी वैशाली गणराज्य के प्रमुख चेटक की पुत्री और भगवान् महावीर के मामा की बेटी बहन थी। उसका सतीत्व विश्रुत था। रथिक उससे अपनी भोग लालसा की पूर्ति करना चाहता था, किन्तु उसने उसको ऐसा अवसर नहीं दिया। उसने रथिक की विकारपूर्ण आकृति और चेष्टाएं देखकर सहसा अपने हाथ से अपनी जीभ खींच ली और प्राणों का बलिदान कर दिया। इस घटना से रथिक स्तब्ध रह गया। वह डरा कि कहीं वसुमती भी अपनी माता के मार्ग का अनुसरण न करले। उसके होंठ काँपने लगे। उसने वसुमती को कोमल स्वर से आश्वासन दिया—बहन! डर मत, अब मेरी काम-वासना शान्त हो गई है। मैं तुझे कौशाम्बी जाकर बेचना चाहता हूँ। मेरे हृदय में कोई विकृति नहीं है। रथिक ने उसे बाजार में बेचा। एक वेश्या ने उसे खरीदा। वसुमती ने किसी भी तरह वेश्या का निन्दनीय कृत्य स्वीकार नहीं किया। वेश्या ने फिर उसे बाजार में बेचा। धनावह नामक सेठ ने उसे खरीद लिया। वह उसके घर में दासी का काम कर समय-यापन करने लगी। सेठ ने उसका नाम चन्दना रखा। एक बार धनावह की पत्नी को सन्देह हुआ कि मेरा पति कहीं इसे अपनी पत्नी न बना ले। किसी काम के लिए सेठ दूसरे गांव गया। सेठानी ने अवसर देखकर चन्दनबाला का शिर मुण्डन किया। उसके हाथ-पैर में जंजीर डाली और उसे कोठे में डाल वह दूसरी जगह चली गई।

उधर भगवान् महावीर कोशाम्बी के घर घर में जाकर भी भिक्षा नहीं ले रहे थे। पाँच महीने और पच्चीस दिन बीते। छब्बीसवें दिन भगवान् ने धनावह के घर में प्रवेश किया। भगवान् ने देखा—यहाँ मेरा अभिग्रह पूर्ण होगा। भगवान् का अभिग्रह था :—

"मैं भिक्षा तभी लूँगा यदि दान देने वाली १—राजा की पुत्री, २—अविवाहित और ३—बाजार से खरीदी हुई हो, ४—जिसका शिर मुण्डित हो और ५—उसमें दाग लगे हों, ६—७—जिसके हाथ-पैर जंजीरों से जकड़े हों, ८—जो तीन दिन से भूखी हो, ९—जिसका एक पांव घर की देहली के अन्दर हो और दूसरा बाहर, १०—तीसरे प्रहर का समय हो, ११—आँखों में आँसुओं की धार बहती हो, १२—छाज के कोने में, १३—उबले हुए उड़द हों। अन्यथा छह महीनों तक मैं तपस्या करता रहूँगा, न भोजन करूँगा और न पानी ही पीऊँगा। यह वह घोर व्रत था, जिसे सुनकर साधारण व्यक्तियों का मन और शरीर कांपने लगता है। क्योंकि लोगों में श्रद्धा एक जैसी नहीं होती, विविध प्रकार की होती है।"

सेठ उसी दिन बाहर से आया था। उसने द्वार खोलकर चन्दनबाला को देखा। वह तीन दिन से भूखी थी। सेठ ने उसके खाने के लिए उबले उड़द छाज के कोने में डाल उसके सामने रख दिए और स्वय जंजीर तुड़वाने के लिए लुहार को बुलाने गया। इधर भगवान् उसके घर आये। भगवान् को देखकर चन्दनबाला हर्ष-विभोर हो उठी। अभिग्रह-पूर्ति की सारी बातें मिल गई। किन्तु आंसू नहीं थे। भगवान् मुड़े। चन्दनबाला के आंखों में आंसू छलक पड़े। भगवान् वापस आये और भिक्षा ग्रहण की। यही चन्दनबाला भगवान् महावीर के साध्वी-संघ की अधिनेत्री और छत्तीस हजार साध्वियों में प्रमुखा बनी।

मुनि श्री मिठालालजी ने इस काव्य का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है। किसी दृष्टि से अनुवाद का कार्य मूल-रचना से भी कठिन होता है। कठिन होने पर भी उन्हें इसमें सफलता मिली है—ऐसा लगता है।

ज्येष्ठ शुक्ला ११, सं० २०१६ —मुनि नथमल
महासभा-भवन, कलकत्ता।

प्रतिपत्तये....

जैन आगम ज्ञान-विज्ञान के अक्षय भण्डार हैं। उनसे संबल पा मनीषी अनेक प्रकार की दार्शनिक एवं साहित्यिक कृतियां युगों से प्रस्तुत करते आ रहे हैं, जिनका अपना बहुत बड़ा महत्व है, जो मानव को 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की ओर बढ़ाये ले चलने का अप्रतिम साधन है।

'अश्रुवीणा' जैन आगमों में वर्णित भगवान् महावीर के तपस्वी जीवन से सम्बन्धित एक अति विश्रुत घटना से जुड़ा संस्कृत खण्ड-काव्य है। भगवान् महावीर के एतद्युगीन प्रतिनिधि महामहिम आचार्य श्री तुलसी के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी की यह पावन कृति है। मुनिश्री ने अपनी उर्वर मेधा व प्रतिभा द्वारा इस काव्य में उदात्त और स्फूर्त भावनाओं की जो अभिनव अवतारणा की है, निःसन्देह संस्कृत के आधुनिक साहित्य-जगत् में वह एक चमत्कृति है। परम पुनीता चन्दनबाला के नेत्रों से निकलती आँसुओं की लड़ी किस प्रकार श्रद्धा और भक्ति से गुनगुनाते भाव-वीणा के तरल तन्तुओं में बदल जाती है, कवि ने अति कोमल-कान्त पदावली द्वारा इसे बड़े स्पृहणीय रूप में प्रस्तुत किया है।

आदर्श साहित्य संघ, जो जीवन को आदर्शोन्मुख बनाने वाले सत्साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार का ध्येय लिये चला आरहा है, की ओर से तेरापन्थ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में कलेवर में लघु पर अत्यन्त प्रभावकारी इस खण्ड-काव्य का प्रकाशन करते हम अत्यन्त हर्ष अनुभव करते हैं।

मुनिश्री मिट्ठालालजी द्वारा किये गये मूलस्पर्शी, सरल एवं सुन्दर अनुवाद ने काव्य की उपयोगिता और बढ़ा दी है।

आशा है, पाठक इस द्वारा जीवन में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की साक्षात् अनुभूति लेने का पथ पायेंगे।

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

सरदारशहर (राजस्थान)
आषाढ़ कृष्णा १३, २०१७.

अश्रु-वीणा

[खण्ड काव्यम्]

(१)

श्रद्धे ! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्ध-दिग्धास्यदन्तान्,
भद्रानज्ञान् वचसि निरतांस्तर्कबाणैरदिग्धान् ।
विज्ञांश्चापि व्यथितमनसस्तर्कलब्धावसादा-
त्तर्केणाऽमा न खलु विदितस्तेऽनवस्थानहेतुः ॥

(२)

संयोगात्तेऽनुभवति नरः पामरश्चामरेन्द्रं,
व्याघातात्ते प्रवर-चतुरश्चाप्यनादेयवाक्यम् ।
पूज्याऽपूज्यान् गुरुकलघुकान् सज्जनाऽसज्जनांश्च,
भावाभावौ विभजति जनस्तत्र माने तवैव ॥

(३)

तत्रानन्दः स्फुरति सुमहान् यत्र वाणीं श्रिताऽसि,
दुःखं तत्रोच्छलति विपुलं यत्र मौनावलम्बा ।
किं वाऽऽनन्दः किमसुखमिदं भाषसे सम्प्रयोगं,
त्वामाक्षिप्य स्वमतिजटिलास्तार्किका अत्र मूढाः ॥

(१)

श्रद्धे ! तू ऐसे नन्हें-नन्हें बच्चों से प्यार करती है, जिनके मुंह और दाँतों का दूध तक न सूखा है, जो ननुनच किए बिना वचनों में विश्वास रखने वाले, मन के भोले और अज्ञ हैं। तू पढ़े-लिखे लोगों में केवल उन्हीं से प्यार करती है, जिनका मन तर्क की परिणाम-विरसता से ऊब गया हो। किन्तु हम यह नहीं जान पाये कि तर्क के साथ तेरा मेल क्यों नहीं बैठता ?

(२)

श्रद्धे ! तुमसे खींचा हुआ व्यक्ति पामर को भी इन्द्र मानने लगता है। पर जब तू चली जाती है, कुशल से कुशल व्यक्ति की बात मानने में भी संकोच होता है। मनुष्य जहाँ पूज्य और अपूज्य में, छोटे और बड़े में, भले और बुरे में भेद-रेखा खींचता है, वहाँ तेरा होना या न होना ही मानदण्ड बनता है।

(३)

श्रद्धे ! तू जहाँ मुखर हो उठती है, सचमुच वहाँ आनन्द बह निकलता है। किन्तु जहाँ तू रूठी रहती है, वहाँ दुःख बाँसों ऊँचा उछलता है। सुख और दुःख की जैसी प्रयोगात्मक परिभाषाएं तू बता सकती है, वैसी तेरा विरोध करने वाले नीरस तार्किक नहीं बता सकते। क्योंकि वे अपने तर्कोन्माद में उलझे रहते हैं।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
तर्केणाऽमा न खलु विदितस्तेऽनवस्थानहेतुः ॥

(२)

संयोगात्तेऽनुभवति नरः पामरश्चामरेन्द्रं,
व्याघातात्ते प्रवर-चतुरश्चाप्यनादेयवाक्यम् ।
पूज्याऽपूज्यान् गुरुकलघुकान् सज्जनाऽसज्जनांश्च,
भावाभावौ विभजति जनस्तत्र मानं तवैव ॥

(३)

तत्रानन्दः स्फुरति सुमहान् यत्र वाणीं श्रिताऽसि,
दुःखं तत्रोच्छलति विपुलं यत्र मौनावलम्बा ।
किं वाऽऽनन्दः किमसुखमिदं भाषसे सम्प्रयोगं,
त्वामाक्षिप्य स्वमतिजटिलास्तार्किका अत्र मूढाः ॥

(१)

श्रद्धे ! तू ऐसे नन्हें-नन्हें बच्चों से प्यार करती है, जिनके मुंह और दाँतों का दूध तक न सूखा है, जो ननुनच किए बिना वचनों में विश्वास रखने वाले, मन के भोले और अज्ञ हैं। तू पढ़े-लिखे लोगों में केवल उन्हों से प्यार करती है, जिनका मन तर्क की परिणाम-विरसता से ऊब गया हो। किन्तु हम यह नहीं जान पाये कि तर्क के साथ तेरा मेल क्यों नहीं बैठता ?

(२)

श्रद्धे ! तुझसे सींचा हुआ व्यक्ति पामर को भी इन्द्र मानने लगता है। पर जब तू चली जाती है, कुशल से कुशल व्यक्ति की बात मानने में भी संकोच होता है। मनुष्य जहाँ पूज्य और अपूज्य में, छोटे और बड़े में, भले और बुरे में भेद-रेखा खींचता है, वहाँ तेरा होना या न होना ही मानदण्ड बनता है।

(३)

श्रद्धे ! तू जहाँ मुखर हो उठती है, सचमुच वहाँ आनन्द बह निकलता है। किन्तु जहाँ तू रूठी रहती है, वहाँ दुःख बांसों ऊँचा उछलता है। सुख और दुःख की जैसी प्रयोगात्मक परिभाषाएं तू बता सकती है, वैसी तेरा विरोध करने वाले नीरस तार्किक नहीं बता सकते। क्योंकि वे अपने तर्कोन्माद में उलझे रहते हैं।

(४)

सत्सम्पर्का दधति न पदं कर्कशा यत्र तर्काः,
मर्वं द्वैधं व्रजति विलयं नाम विश्वासभूमौ।
मर्वे स्वादाः प्रकृतिसुलभा दुर्लभाश्चानुभूताः,
श्रद्धा-स्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म॥

(५)

चित्रं चित्रं तव सुमृदवः प्राणकोशास्तथापि,
कष्टोन्मेषे दृढतममतो मानवे चानुरागः।
श्रद्धाभाजो जगति गणिताः सन्दिहाना असंख्याः,
श्रद्धा-पात्रं भवति विरलस्तेन कश्चित्तपस्वी॥

(६)

श्रद्धावृत्तं लिखितमधुनाप्यस्ति वाष्पाम्बुमय्या,
भक्त्युद्रेकाद् द्रवति हृदयं द्रावयेत्तन्न कं कम्।
श्रद्धापूता समजनि सती चन्दना वन्दनीया,
भक्तिस्नातोऽप्यजनि भगवान् भावनापूत्यवन्ध्यः॥

(७)

निर्ग्रन्थानामधिपतिरसौ पश्चिमस्तीर्थनाथो—
देह-स्नेहं सहजसुलभं बन्धहेतुं व्युदास्य।
दीर्घं कालं विविधविधिभिर्घोररूपं तपस्य-
न्नेकं कञ्चिद् कुलिशकठिनोऽभिग्रहं चारु चक्रे॥

(४)

जहाँ तर्कों की कर्कशता होती है, वहाँ आपसी सम्बन्ध सरस हो नहीं पाते। एकात्मकता का उदय विश्वास की भूमिका में ही होता है और वहाँ सारा द्वैध विलीन हो जाता है। सरलता से या कठिनाई से मिलने वाले सब स्वादों का अनुभव करने पर भी जिसने श्रद्धा का स्वाद नहीं चखा, उसका जन्म वृथा है।

(५)

श्रद्धे! कितना आश्चर्य है! तेरे प्राणकोश अत्यन्त सुकुमार हैं फिर भी तू उन व्यक्तियों से अनुराग करती है, जो भयंकर कष्टों के वातूल में भी अडोल रहते हैं। संसार में श्रद्धालु उंगलियों पर गिनने जैसे हैं और सन्देहशील असंख्य। श्रद्धा का उपयुक्त पात्र कोई बिरला साधक ही होता है।

(६)

श्रद्धा का इतिहास आंसुओं की स्याही से लिखा गया है। जहाँ भक्त का हृदय भक्ति के उद्रेक से पिघल जाता है, वहाँ वह औरों (भगवान्) को भी पिघला देता है। सती चन्दनबाला श्रद्धा की गंगा में नहाकर पवित्र बन गई। उसकी भक्ति से नहाए हुए भगवान् भी उसकी भावना को असफल नहीं कर सके।

(७)

साधु-संघ के अधिपति, अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर सहज-सुलभ देहासक्ति को बन्धन-कारक मान उससे परे रहते थे। उन्होंने दीर्घकाल तक विविध प्रकार से घोर तपस्या करते हुए एक विचित्र अभिग्रह किया—व्रत लिया। कष्टों को सहने में वे वज्र से भी कठोर थे।

(८)

क्रीता[१] कन्या[२] नृपतितनया[३] मुण्डिता[४] चिह्निताऽपि[५],
पाशैर्बद्धा[६] करचरणयो[७]स्त्र्याह्निकक्षु[८]त्क्रमा च ।
संभिन्दाना व्यथितहृदया देहलीं[९] नाम पद्भ्यां,
मध्याह्नोर्ध्वं[१०] प्रतनु रुदती[११] सूर्पकोण[१२]स्थमापान्[१३] ॥

(९)

दद्याद् भोक्ष्ये ध्रुवमितरथा नाहरिष्यामि किञ्चित्,
षण्मासान्तं सुविहिततया नैव पास्यामि नीरम् ।
श्रुत्वाऽप्येतत् सतनुमनसो वेपनं तद्व्रतं य-
च्छ्रद्धा-रेखा भवति खचिता नैकरूपा जनानाम् ॥ (युग्मम्)

(१०)

खेदं स्वेदो बहिरपनयञ्जात आकस्मिकेन,
प्रोल्लासेनाऽभ्युदयमथवा दर्शनाद् विश्वभर्तुः
कामं भ्रान्तां किमपि किमपि प्रस्मरन्तीं स्मरन्तीं,
स्वस्थां चक्रे पुलकिततनुं चन्दनां स्मेरनेत्राम् ॥

(८-९)

(वह अभिग्रह इस प्रकार था) मैं भिक्षा तभी लूंगा, यदि दान देने वाला—(१) राजा की पुत्री हो (२) अविवाहित हो (३) बाजार से खरीदी हुई हो (४) जिसका सिर मुंडित हो (५) उसमें दाग लगे हों (६-७) जिसके हाथ, पैर जंजीरों से जकड़े हों (८) जो तीन दिन से भूखी हो (९) जिसका एक पांव घर की देहली के अन्दर हो और दूसरा बाहर (१०) तीसरे प्रहर का समय हो (११) आंखों में आसुओं की धार बहती हो (१२) छाज के कोने में (१३) उबले हुए उड़द हों। अन्यथा छह महीनों तक मैं तपस्या करता रहूँगा, न भोजन करूँगा और न पानी ही पीऊँगा। यह वह घोर व्रत था, जिसे सुनकर साधारण व्यक्तियों का मन और शरीर कांपने लगता है। क्योंकि लोगों में श्रद्धा एक जैसी नहीं होती, विविध प्रकार की होती है।

(१०)

विश्व-भर्ता भगवान् महावीर के दर्शन से चन्दनबाला को अकस्मात् जो अपार हर्ष का अनुभव हुआ, उससे उसके शरीर से स्वेद टपकने लगा। उस समय ऐसा लगता था, मानो वह स्वेद चन्दनबाला के अन्तर्वर्ती संताप को बाहर खींच लाया है। जो कुछ क्षण पहले दिङ्मूढ़ सी बनी हुई अर्ध-विस्मृति की स्थिति में डुबकियाँ लगा रही थी, अब वह स्वस्थ हो गई। उसका शरीर पुलकित हो उठा और आंखे विकसित हो गईं।

(११)

धन्यं धन्यं शुभदिनमिदं विद्युता द्योतिताशः,
सिञ्चन्नुर्वीं नवजलधरः कर्षकैणाद्य दृष्टः ।
तापः पापोऽगणितदिवसैरन्तरुर्व्याः प्रविष्टः,
श्वासानन्त्यान् गणयतितमां निःश्वसन्नुष्णमुच्चैः ॥

(१२)

कार्यं चिन्वंल्लभति विशदं कल्पनानां निकायो,
राज्यभ्रंशे निर्यातिनिरतः पेलवो योऽजनिष्ट ।
भाग्येनैषा कुटिलमतिना सर्वथोपेक्षिताऽपि,
सानायासं समरसजुषाऽहं सनाथीकृताऽस्मि ॥

(१३)

सर्वा सम्पद् विपदि विलयं निर्विरोधं जगाम,
व्यूढश्रद्धा महति सुकृतेऽद्यापि नूनं परीक्ष्या ।
भक्त्यादेया प्रकृतिकृपणाऽकिञ्चनैर्निर्विशेषा,
स्वामिन्नेषा विनयविनताऽस्मि प्रणामावशेषा ॥

(१४)

आशास्थानं त्वमसि भगवन्! स्त्रीजनानामपूर्वं,
त्वत्तो बुद्ध्वा स्वपदमुचितं स्त्रीजगद् भावि धन्यम् ।
जिह्वां कृष्ट्वाऽसहनरथिकः कामभक्तोऽन्यया मे,
दृष्टिं नीतोऽस्तमितनयनस्तत्र दीपस्त्वमेव ॥

(११)

आज का शुभ दिन कितना धन्य है। कृषिकार ने नव-मेघ को देखा कि वह विद्युत्-प्रकाश से समस्त दिशाओं को आलोकित करता हुआ, अपनी धाराओं से भूमि को सींच रहा है। बहुत दिनों से जो दुष्ट ताप भूमि में छिपा हुआ था, आज वह जोर से गरम आहें छोड़ता हुआ अपनी अन्तिम सांसें गिन रहा हो—ऐसा प्रतीत होता है।

(१२)

राज्य-भ्रंश होने पर मेरी समस्त कल्पनाएँ नियतिवश दुर्बल हो चली थीं, आज वे मानो विशद शरीर का निर्माण कर रही हैं। जिस कुटिल-भाग्य ने मुझे (चन्दनबाला को) उपेक्षित कर रखा था, वह मैं समरसलीन भगवान् द्वारा आज अनायास ही सनाथ कर दी गई हूँ।

(१३)

जिसकी समस्त सम्पत्ति ने विपत्ति में अपना निर्विरोध विलय कर दिया, उस दृढ़ श्रद्धालु की परीक्षा क्या आज की इस पुण्योदय की वेला में भी अवशिष्ट है? भगवन्! आज यह चन्दनबाला प्रकृति कृपण अकिंचन व्यक्ति जैसी स्थिति में है। उससे भक्ति की ही अपेक्षा की जा सकती है। प्रणाम करने के अतिरिक्त उस विनीत (चन्दनबाला) के पास है भी क्या?

(१४)

भगवन्! महिला-जगत् की आशाओं के आप एक अपूर्व केन्द्र-स्थान हैं। महिलाएँ आपसे अपनी शक्ति का सही मान पा जीवन में सफल होंगी। शत्रु (शतानीक) के कामोन्मत्त रथिक ने मेरी माता के साथ बलात्कार करना चाहा, तब उसने (माता ने) अपनी जीभ खींच कर अपने प्राणों की आहुति दे दी और साथ ही उस रथिक की अन्तर की आंखें खोल दीं—उसे सत्पथ पर ले आई। उस समय मेरी माता के लिए आप ही प्रकाश-स्तम्भ बने थे[1]।

१—चन्दनबाला के पिता, चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन के साथ कौशाम्बी के राजा शतानीक ने जब लड़ाई छेड़ी, तब राजा दधिवाहन युद्ध-स्थल को छोड़कर वन की ओर भाग निकला। पीछे से शतानीक के सैनिक नगर को लूटने के लिए अन्दर गए। एक रथिक राजभवन से चन्दनबाला और उसकी माता धारिणी को रथ में बिठाकर वन की ओर चल पड़ा। मार्ग में उसके बलात्कार से अपने शील की रक्षा के लिए धारिणी ने अपनी जीभ खींचकर प्राणान्त कर दिया।

(१५)

चण्डश्चण्डं गलमुपनतस्त्वां दशन् कौशिकोऽपि,
कोपाटोपं विपुलमुपयन् मिश्रितं विस्मयेन ।
संज्ञां लेभे प्रशमफलितां यन् महान् सेव्यमानः,
प्रत्यासत्त्या भवति निखिलाऽभीष्टसिद्धेर्निमित्तम् ॥

(१६)

अत्राणानां त्वमसि शरणं त्राहि मां त्राहि तायिन्,
गृह्णीष्वैतान् सकरुणदृशा नीरसान् सर्वभावान् ।
अन्तःसाराः सहजसरसा यच्च पश्यन्ति गूढा—
नन्तर्भावान् सरसमरसं जातु नो वस्तुजातम् ॥

(१७)

इष्टे शश्वन् निवसति जने मन्दतामेति हर्ष—
स्तस्यानिष्टेऽप्यनुभवलवो नैव सञ्चितिः स्यात् ।
इष्टेऽनिष्टाद् व्रजति सहसा जायते तत्प्रकर्षो,
लब्ध्वाऽर्हन्तं प्रतिनिधिरिवाद्याऽऽबभौ सम्मदानाम् ॥

(१८)

भिक्षां लब्धुं प्रसृतकरयोः सम्प्रतीक्षापटुभ्यां,
तच्चक्षुर्भ्यां हसितमिषताऽपूर्वहर्षोदयेन ।
येनाऽश्रूणामवलिरभवत् केवलं नैव मृष्टा,
तेषां किन्तु प्रसरनिपुणा चाप्युपादानलेखा ॥

भगवन् ! चण्डकौशिक साँप (दृष्टि-विष सर्प—जिसकी आंखों में भयंकर जहर था) बड़ा उग्र था। वह आपके गले में फन फैलाकर डसने लगा। उसे आश्चर्य हो रहा था कि अनेकों बार डसने पर भी भगवान् अडोल कैसे खड़े हैं ? क्रोध से वह आगबबूला हुआ। अन्त में उसे ऐसी चेतना प्राप्त हुई, जिसका परिणाम था—प्रशम-मानस-समाधि। निकट में की गई महापुरुषों की उपासना इष्ट-सिद्धि का निमित्त बनती है, भले वह कैसे ही की जाए।

(१६)

त्रिभुवन-रक्षक ! आप अत्राणों के त्राण हैं। मैं आपकी शरण में हूँ। मेरी रक्षा कीजिए। मेरे ऊपर कृपा कर छाज में रखे उबले हुए उड़द आप स्वीकार करें। क्योंकि जो व्यक्ति स्वभाव से सरस और आत्मा में ही सारभूत तत्वों का अनुभव करने वाले हैं, वे दूसरों के गूढ़ अन्तर्भावों को ही महत्त्व देते हैं, सरस-नीरस बाह्य पदार्थों का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं होता।

(१७)

जो व्यक्ति निरन्तर अभीष्ट वातावरण में रहता है, वहाँ अतिपरिचय के कारण उसका हर्ष फीका सा पड़ जाता है और अनिष्ट वातावरण में हर्ष की अनुभूति पनप सके—यह प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु व्यक्ति जब अनिष्ट वातावरण से सहसा इष्ट वातावरण में आता है, उस समय उसे अपूर्व हर्ष का अनुभव होता है। भगवान् महावीर को सम्मुख पाकर चन्दनबाला की भी यही स्थिति थी। मानों वह आनन्द की प्रतिनिधि बन गई हो।

(१८)

भगवान् भिक्षा लेने को प्रस्तुत थे। चन्दनबाला की आंखें उनकी प्रतीक्षा में अधीर हो रही थीं। उस समय वे (आंखें) अपूर्व आनन्द से ऐसी खिल उठीं कि केवल उनसे अजस्र बहने वाले आँसू ही नहीं पोंछे गए बल्कि उनकी (आँसुओं की) उपादान-रेखाएँ भी पोंछी जा चुकीं।

(१६)

श्रद्धाभाजां भवति मसृणं मानसं यावदेव,
श्रद्धापात्रैः प्रचरति समं रूक्षभावोऽपि तावान् ।
अम्भोवाहो घनरसनतः स्नेहपूर्णेक्षणानि,
ग्रीष्मार्तानामचिरमकृपं लङ्घते साशयानि ॥

(२०)

किञ्चिन्नोक्तं न खलु मृदुलाऽपैक्षि तद्भावनाऽपि,
श्रद्धाविष्टं नयनमनसोश्चापलं नाप्यलोकि ।
भिक्षादानोच्चलितकरयोर्नानुकम्पाऽप्यकारि,
दैवार्येण प्रतिगतमिति द्वारदेशोपकण्ठम् ॥

(२१)

पाणी वक्त्रान्न च बहिरगाद् योजितौ नापि पाणी,
पाञ्चालीवाऽनुभवविकला न क्रियां काञ्चिदार्हत् ।
सर्वैरङ्गैः सपदि युगपन्नीरवं स्तब्धताऽऽप्ता,
वाहोऽश्रूणामविरलमभूत् केवलं जीवनाङ्कः ॥

(२२)

मूर्च्छां प्राप्य क्षणमिह पुनर्लब्धचित्तोदयेव,
दिक्षु भ्रान्त्वा दशतु करुणं साशयं सा निदध्यौ ।
नाश्वासाय व्यथितहृदया प्राप कश्चिद् द्वितीयं,
सद्यः सिद्ध्यै स्फुरितजवनाऽऽमन्त्र्य वाष्पानुवाच ॥

श्रद्धालु व्यक्तियों का अन्तःकरण जितना अधिक चिकना होता है, उतना ही अधिक रूखापन श्रद्धापात्र व्यक्तियों में रहा करता है। कई बार देखते हैं, जल से भरे हुए और झुके हुए मेघ भी गर्मी से सन्तप्त लोगों की स्नेह और उज्जवल भविष्य की कल्पनाओं से भरी हुई आंखों की निर्दयता से उपेक्षा कर आगे निकल जाते हैं।

(२०)

भगवान् ने चन्दनबाला को न कुछ कहा, न उसकी कोमल भावना को आंका, न उसकी श्रद्धा से भीगी आंखों को और मन की अधीरता को देखा और न भिक्षा देने के लिए आगे बढ़े हुए हाथों पर ही दया की। भगवान् दान लिए बिना ही वहाँ से द्वार की ओर चल पड़े। (कारण कि चन्दनबाला की आंखों में आंसू नहीं थे)

(२१)

चन्दनबाला के मुँह से उस समय न शब्द निकल पाया और न उसके हाथ ही जुड़ पाये। पुतली की तरह वह ऐसी अनुभव-शून्य बन गई कि उसमें कुछ क्रिया करने की क्षमता तक न रही। उसके समस्त अंगों में एक साथ तेजी से ऐसी निस्तब्धता छा गई कि उसकी आंखों में अजस्र बहने वाले आंसू ही उसके जीवित होने के चिन्ह जान पड़ते थे।

(२२)

वह क्षण भर के लिए मूर्च्छित सी हो गई। पुनः चैतन्य का जागरण हुआ, उसने भ्रान्त व्यक्ति की तरह दशों दिशाओं में देखा। उसके देखने में करुणा और आशा टपक रही थी। उसका दिल टूट रहा था। उसे आश्वासन देने वाला कोई दूसरा न मिला। फिर अपनी कार्य-सिद्धि के लिए उसमें जोश उमड़ा और आंसुओं को सम्बोधित कर बोली।

(२३)

बाष्पाः ! आशु व्रजत नयतेक्ष्वमेव प्रयाति,
साक्षात्प्राप्तः परिचितवपुः प्रापणीयस्तपस्वी ।
सार्थश्चैकोऽनुभवति विपद्भारमोक्षञ्च युष्मां-
ल्लब्ध्वा नान्यो भवति शरणं तत्र यूयं सहायाः ॥

(२४)

भिन्ना शक्तिः सकलविदिता हन्त युष्मासु भाति,
रोद्धुं यान्नाक्षमत पृतना नापि कुन्ताग्रशुभ्रम् ।
खातं गर्ता गहनगहनं पर्वतश्चापगाऽपि,
मग्नाः सद्यो वहति विरलं तेऽपि युष्मत्प्रवाहे ॥

(२५)

दृश्यं पुण्यं चरति सततं पादचारेण सोऽयं,
तस्माद् भूमिं सरत पुरतः पादयोर्न्यस्यताऽपि ।
संश्लिष्यन्तो हृदयगहनस्पर्शिभावान् सजीवान्,
मार्गान्नातिव्रजति स यतस्तत्क्षणार्द्रान् सजीवान् ॥

(२६)

स्मर्तव्यं तद् यतिपतिरसौ पूतभावैकनिष्ठो,
नेयस्तस्मादद्भुतमपथैः पावनोत्सप्रतीतिम् ।
साहाय्यार्थं हृदयमखिलं सार्थमस्तु प्रयाणे,
तस्योद्घातः क्षणमपि चिरं कार्यपाते न चिन्त्यः ॥

(२३)

(चन्दनबाला सम्भ्रमपूर्वक आंसुओं से कह रही है)—आंसुओं ! तुम जल्दी जाओ और पहुँचो। देखो ! वह तपस्वी जा रहा है, जो मुझे साक्षात् मिला था। यह संचित सुकृत द्वारा ही मिला करता है। आंसुओं ! तुम्हें पाकर अकेला व्यक्ति भी साथ और विपत्ति के भार से मुक्ति का अनुभव करता है। जहाँ दूसरा कोई शरण नहीं, वहाँ तुम्हीं सहायक बनते हो।

(२४)

आँसुओं ! जिन्हें सेना, भाले की पैनी नोक, सदान, गड्ढा, घोर जंगल, पहाड़, नदियाँ भी रोकने में असमर्थ हैं, वे तुम्हारे लघु-प्रवाह में सहसा डूब जाते हैं। तुम्हारे में कोई अद्भुत शक्ति है, इसे सब जानते हैं।

(२५)

आंसुओं ! देखना, यह पैदल चल रहा है, इसलिए तुम भी भूमि पर चले जाना और उसके पैरों के सामने नाचने लग जाना। किन्तु अन्तर-हृदय को छूने वाले सजीव अभिप्रायों को साथ रखना। क्योंकि वे तत्काल भीगे सजीव मार्गों को लांघ कर नहीं जाते।

(यहाँ पर यह दिखाया गया है कि जिस प्रकार जीव-सहित मार्ग अहिंसक के लिए अनतिक्रमणीय होते हैं, उसी प्रकार हृदय के सजीव भाव भी अनुल्लङ्घ्य हैं, अर्थात् टाले नहीं जाते। निर्जीव भावों का कुछ भी मूल्य नहीं हुआ करता)

(२६)

आंसुओं ! याद रखना, ये यति-पति पवित्रता में विश्वास रखते हैं। अतः उन्हें अत्यन्त सरलता से विश्वास दिलाना कि हमारा जन्म पवित्र स्रोत से हुआ है। तुम्हारे इस प्रयाण में मेरा समूचा हृदय सहयोग के लिए तुम्हारे साथ है। काम पड़ने पर उसे खोलकर रखने में भी तुम विचार या संकोच न करना।

(२७)

अन्तर्वेदी प्रकरणपटुः किंस्विदत्राऽनुरोध्यो,
नैवं भाव्यं सुचिरमलमैः कल्पनागौरवेण ।
कार्यारम्भे फलवति पलं न प्रमादो विधेयः,
सिद्धिर्वन्ध्या भवति नियतं यद् विधेयश्लथानाम् ॥

(२८)

आलोकाग्रं वसतिममलामाश्रयध्वेऽपि यूय—
मालोकानामधिकरणभूरेष पुण्यो महर्षिः ।
दृश्यं कश्चिन्नयदुकृतिनटः स्यान्न वा मध्यपाती,
यद् दुर्भेद्यस्तिमिरनिचयो नास्ति तादृक् त्रिलोक्याम् ॥

(२९)

अन्तस्तापो बत भगवते सम्यगावेदनीयो,
युष्मद्योगः सुकृतसुलभः संशये किन्तु किञ्चित् ।
नित्यामोदाः प्रकृतिसरला मुक्तवाते चरन्तः,
शीतीभूता ह्यपि च पटवः किं क्षमाभाषिणोऽत्र ॥

(३०)

पूर्वं देहस्तदनुवसनं मृद्-मरुच्चातपोऽपि,
युष्मत्स्नेह-ग्रहणमिदं संविरोत्स्यन्त एव ।
तस्माद् भूयाद् विजयजवि तत् संहतश्चानुवंशं,
त्राणं यस्माद् भवति न च भूःक्षीणमूलान्वयानाम् ॥

भगवान् स्वयं अवसरज्ञ हैं और अन्तर्भावों को जानते ही हैं, इसलिए उन्हें अनुरोध की क्या आवश्यकता है? —इस तरह की बड़ी-बड़ी कल्पना करके (आंसुओं ! तुम आलसी मत बन जाना) "शुभस्य शीघ्रम्" के अनुसार शुभ कार्य के प्रारम्भ करने में आलस्य करना अच्छा नहीं क्योंकि जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य में जागरुक नहीं होते, उन्हें सफलता नहीं मिलती।

(२८)

तुम आलोक (आंख) के अग्र भाग को स्वच्छ बस्ती में रहते हो और वे पवित्र महर्षि आलोक को आधार भूमि हैं अर्थात् आलोक—(ज्ञान) मय हैं अतः स्वयं तुम भी अपना.काम करना किन्तु इस बात का ध्यान रखना कि मीठा बोलने वाला कोई तुम्हारे बीच में गढ़ विघ्न न बन जाए। क्योंकि उस जैसा दुर्भेद्य, निविड़ अन्धकार तीन लोक में भी कोई दूसरा नहीं है।

(२६)

आँसुओं ! मेरो अन्तर्व्यथा भगवान् को अच्छी तरह से निवेदित कर देना। तुम्हारा सुयोग भी पुण्य से मिला है किन्तु मुझे आशंका है कि खुली हवा में बिहार करने से कहीं तुम ठंडे न बन जाओ। यद्यपि तुम पटु हो पर क्या मेरा काम कर सकोगे? क्योंकि तुम सदा लघु-आकृति में रहते हो और तुम्हारा स्वभाव भी तरल है।

(३०)

स्निग्ध—निर्झर के रूप में जब तुम बह कर जाओगे, उस समय पहले ये आंखों के गढ्ढे तुम्हारा विरोध करेंगे अर्थात् सुखाने का प्रयत्न करेंगे और उसके बाद कपड़े, मिट्टी, हवा और धूप—ये सब तो विरोध करेंगे ही। इसलिए तुम्हारा यह संगठित और सतत (आनुवंशिक) प्रवाही निर्झर विजय पाने में अर्थात् अपना काम करने में तत्पर बने। क्योंकि यह पृथ्वी भी उन व्यक्तियों को कोई त्राण नहीं देती, जिनको वंश-परम्परा विच्छिन्न हो चुकी है अर्थात् उन व्यक्तियों का नाम संसार के मानचित्र से मिट जाता है।

(३१)

ध्येयं सम्यक् क्वचिदपि न वा न्यून-सज्जा भवेत,
घोषाः पुष्टा बहुलतुमुलास्ते पुरश्चारिणः स्युः ।
आकर्षेयुर्गमन-नियतं ये प्रमोष्यानमत्र,
यन् मूकानां न खलु भुवने क्वापि लभ्या प्रतिष्ठा ॥

(३२)

निश्छिद्रेऽस्मिन् भगवति पुनश्छिद्रमन्वेषयेयुः,
संपत्स्यन्ते सफल विधयस्ते कदाचिन्न तत्र ।
कर्णश्छिद्रं सदपि सगुणं बाधते तं न किञ्चि-
त्तद् यातोच्चैर्जिनमुपगताः प्राणवर्चां पटिष्ठाम् ॥

(३३)

स्फूर्त्यारमानः प्रसरणसहा भेदसंघातजाताः,
संकेतैर्वा सहजशकनैर्वेदयन्तोऽर्थजातम् ।
शब्दा यूयं प्रकृतिपटवोऽनक्षराः साक्षरा वा,
नाशस्तां मां किमपि शृणुयादित्यमुं प्रेरयध्वम् ॥

(३१)

आंसुओं ! तुम पहले ही अच्छी तरह ध्यान दे लो, कहीं किसी सामग्री में कुछ कमी न रह जाए। ये तुमुलनाद करने वाले घोष (सिसकियां) तुम्हारे आगे चलें और भगवान् जो जा रहे हैं, उनका ध्यान इस ओर खींचें। क्योंकि मूक व्यक्तियों को संसार में कभी भी सम्मान नहीं मिला करता।

(३२)

आंसुओं ! भगवान् निश्छिद्र (दोष-रहित) हैं। जो इनमें छिद्र ढूंढ़ेंगे, वे कभी भी अपने कार्य में सफल नहीं होंगे। यद्यपि इनके कानों में छिद्र हैं और ये शीघ्र अपने विषय (शब्द) को ग्रहण करते हैं। किन्तु वे इनके ध्यान में कुछ भी बाधा नहीं पहुंचाते। अतः इन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए विशिष्ट शक्तिशाली बन कर जाना चाहिए।

(३३)

(चन्दनबाला के रुदन के साथ सिसकियों के रूप में शब्द भी हो रहा था)— वह शब्दों को सम्बोधित कर कह रही है शब्दों ! तुम प्रसरणशील हो, ध्वनित होना तुम्हारी आत्मा है। पुद्गल-स्कन्धों (समुदित परमाणुओं) के भेद (एक स्कन्ध का अनेक स्कन्धों में विभक्त होना) से तुम पैदा हुए हो। अपनी सहज शक्ति और संकेतों के द्वारा तुम वस्तु का बोध कराते हो। अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक—ये तुम्हारे दो रूप हैं। तुम स्वभाव से बड़े पटु हो। अतः भगवान् को इतनी सी प्रेरणा दे दो कि वे मुझ दुखियारी की कुछ बात सुन लें।

(३४)

जीवाजीवैरपि तदुभयैर्यूयमुत्पद्यमाना,
अभ्रे मूर्तिं जनयथ निजां चित्ररेखाश्च भूमौ ।
चित्रं युष्मान् श्रवणविषयान् मन्वतेऽद्यापि लोकाः,
सूक्ष्मैर्भाव्यं न खलु विदुरैः स्थूलदृष्टिं गतेषु ॥

(३५)

सद्यो वातावरणमखिलं क्षोभयन्त्यो लहर्यो,
युष्माकं तं निरुपममहो ध्यानलीनं समेत्य ।
क्षोभात्मानं निजकमुचितं विस्मरेयुर्न भावं,
कश्चिच्चित्रो भवति भुवने यन्महात्म-प्रभावः ॥

(३६)

भेदो भावी प्रथमसमये तत्र चिन्ता न कार्या,
स्कन्धानन्यान् वियति विततान् प्राप्य यातव्यमग्रे ।
वाद्य-व्यूहो ध्रुवमुपनतः स्यात् प्रगल्भाः प्रयाणे,
सोत्साहास्तं परमपरतो योगमाप्त्वा तरन्ति ॥

शब्दों ! तुम जीवों से, अजीवों से और उनके मिश्र[1] (जीवाजीव) से पैदा होकर आकाश में अपनी आकृतियाँ और भूमि में विविध प्रकार की रेखाए बनाते हो। बड़ा अचरज है कि फिर भी आज तक लोग तुम्हें कानों का ही विषय मानते रहे हैं। स्थूल-दृष्टि वाले लोगों के बीच विद्वान् को ज्यादा सूक्ष्म बनना उचित नहीं है।

(भाव यह है कि शब्द दृश्य भी हैं, फिर भी लोग उन्हें सिर्फ श्रव्य ही मानते हैं। क्योंकि साधारणतः कानों के द्वारा ही शब्द सुने जाते हैं, आंखों से देखे नहीं जाते। इसलिए स्थूल दृष्टि वाले व्यक्ति इस सूक्ष्मता की तह तक पहुंच नहीं पाते)

(३५)

शब्दों ! समस्त वातावरण को झकझोर देने वाली तुम्हारी लहरें उस ध्यानस्थ निरुपम भगवान् के पास जाकर कहीं झकझोरने वाले अपने स्वभाव को ही न भूल बैठें — इस बात का ध्यान रखना। क्योंकि संसार में महात्माओं का अद्भुत प्रभाव होता है।

(३६)

शब्दों ! यहाँ से जाने के पहले ही समय में तुम्हारा भेद होगा (बिखर जाओगे)। किन्तु इस बात की चिन्ता न करना। आकाश में फैले हुए सहयोगियों (पुद्गल-स्कन्धों) को लेकर आगे चले जाना। प्रगति के लिए जो प्रयाण किया जाता है, उसमें बाधाएँ अवश्य आती हैं, किन्तु उत्साही व्यक्ति दूसरों का पर्याप्त सहयोग पाकर उन्हें पार कर जाते हैं।

१—"शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) जीव (२) अजीव और (३) मिश्र। केवल जीव के प्रयत्न से पैदा होने वाला शब्द जीव शब्द कहलाता है, जैसे—मौखिक शब्द। जिसमें जीव का प्रयत्न न हो उसे अजीव शब्द कहते हैं, जैसे—मेघ की गड़गड़ाहट। जीव और अजीव—इन दोनों के समवेत प्रयत्न से जो शब्द पैदा होता है, उसे मिश्र शब्द कहते हैं, जैसे—मुँह और बाजे के संयोग से पैदा होने वाला शब्द।"

(३७)

लोकस्यान्ता अविरलमितः स्पर्शनीयाः क्षणेन,
पूर्णाकाशे तदनुविशदं रूपमालेखनीयम् ।
आशासेऽहं कथमपि न वा लप्स्यतेऽत्र प्रमादः,
विश्व-ग्रन्थाकलितविशदज्ञानराशिं प्रयोक्तुम् ॥

(३८)

भावा वाच्या वचनचतुरैर्वैखरीं प्राप्य वृत्ति-
मारोढव्या क्वचिदिह दशा मध्यमा वा यथार्हम् ।
पश्यन्ती न स्मृतिसिचयतो नूनमुत्सारणीया,
युष्माभिर्वा भगवति मतैः स्प्रक्ष्यते सा परापि ॥

(३९)

चक्षुः कामं सुपटुकरणं दूरतोऽपि प्रकाशि,
नार्हाः सौक्ष्म्यात् परमिह कुतोऽपि प्रतिच्छन्दमाप्तुम् ।
तस्माच्छ्रोत्रं शरणमिह वो व्यञ्जनं तेन नेयं,
प्रारब्धव्यो लघुरथ गुरुर्वा विधिः संविमृश्य ॥

शब्दों ! क्षण भर में तुम लोक के कोने को छू लेना। उसके बाद समस्त आकाश पटल में अपनी आकृतियां अंकित कर देना। मैं आशा करती हूँ, इस विश्व-यात्रा में तुम्हें जो विशिष्ट अनुभव होंगे, उनका भगवान् के समक्ष प्रयोग करने में तुम आलस्य नहीं करोगे।

(३८)

निपुण व्यक्तियों को कहीं पर अपने अभिप्राय बैखरी ध्वनि से व्यक्त करने चाहिए व कहीं पर उचित हो तो मध्यमा ध्वनि के सहारे और ऐसे अवसर में पश्यन्ती ध्वनि को भूलना भी ठीक नहीं होता। आंसुओं ! तुम जब भगवान् के पास पहुँचोगे, तब परा ध्वनि का स्पर्श भी तुम्हें करना होगा[1]।

(३९)

दूर से वस्तु को देखने (ग्रहण-करने) में आंख एक बहुत निपुण इन्द्रिय है। किन्तु उसमें तुम अपना प्रतिबिम्ब डाल नहीं सकोगे। क्योंकि तुम बहुत सूक्ष्म हो। अतः कान की शरण में जाना तुम्हारे लिए ठीक होगा। उससे तुम अपने को व्यक्त कर सकोगे। कार्य चाहे छोटा हो या बड़ा, उसका प्रारम्भ विचारपूर्वक ही होना चाहिए।

१—शब्द की चार अवस्थाएं होती हैं :—

(१) बैखरी—स्पष्ट स्वर।

(२) मध्यमा—क्षीण स्वर।

(३) पश्यन्ती—अन्तःकरण का स्वर।

(४) परा—बीज-अवस्थागत स्वर।

अन्तिम प्रकार की ध्वनि दिव्य-शक्ति की परिचायिका है और ध्वनि-तत्त्व की महाशक्तिमय अवस्था है। वह अव्यक्त रहती है। इसका श्रवण आत्मोपलब्धि के उपरान्त ही हो सकता है। परा ध्वनि भाषानुसार विचित्र नहीं होती है। आत्मा की ध्वनि होने से सभी भाषाओं में एक ही होती है।

(४०)

तद् युष्माभिः पुनरपि पुनः पूरणीयं सयत्नं,
पश्चात्तत्रोपकरणमपि प्राप्स्यते मार्गदर्शि ।
संप्राप्तानां लघु भगवता भोत्स्यते व्यञ्जनं वो,
यन्नोपेक्ष्या ध्रुवमतिथयः मङ्गमार्थाः प्रबुद्धैः ॥

(४१)

अग्रे चेतः स्फुरितमधुना भावि युष्मद्-ग्रहाय,
सन्देहानां झटिति वसतिर्लङ्घनीयान्तरात्मा ।
सेहापोहं तदनु भगवांल्लप्स्यते निश्चयं च—
श्चिन्तापूर्वं कृतपरिचया एव सख्यं वहेरन् ॥

शब्दो! तुम्हें पहले पुनः-पुनः चेष्टा करके उनके (भगवान् के) कान के छिद्र को भरना है। पीछे तुम्हें वहाँ रास्ता दिखाने के लिए उपकरण[1] मिल जाएगा। भगवान् जब तुम्हें पा लेंगे, तब तुम्हारी स्फुट अभिव्यक्ति[2] होगी। यह तो स्पष्ट है कि प्रबुद्ध व्यक्ति मिलने के लिए आये हुए अतिथियों की उपेक्षा नहीं करते।

(४१)

शब्दो! उसके आगे तुम्हें लिवा ले जाने के लिए भगवान् का मन तुम्हारे सामने[3] आयेगा। उसके साथ चलते हुए बीच में सन्देहों[4] की बस्ती आए, उसे मत लांघ जाना। भगवान्[5] ईहा और अपोह[6] के द्वारा तुम्हें अपना लेंगे। क्योंकि सोच-विचार कर परिचय करने वाले ही मित्रता निभाते[7] हैं।

१—श्रोत्र (कान) इन्द्रिय के दो प्रकार होते हैं:—(१) निर्वृत्ति और उपकरण। कर्ण-शष्कुली (कर्ण की पपड़ी) और कदम्ब के फूल के रूप में जो कान की बाहरी और भीतरी बनावट है, वह निर्वृत्ति-इन्द्रिय कहलाती है। निर्वृत्ति की वह शक्ति जो शब्द सुनने में उपकारक बनती है, उपकरण-इन्द्रिय कहलाती है।

२—यहाँ शब्द-ज्ञान का क्रम बताया गया है। शब्द सुनने में सबसे पहले व्यञ्जनावग्रह होता है। कान (उपकरण-इन्द्रिय) और शब्द का सम्पर्क होने पर पहले-पहल जो अस्पष्ट ज्ञान होता है, उसे व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। जैसे—कान में शब्द के आने पर कान से किसी चीज का स्पर्श हुआ—ऐसा ज्ञान होना।

३—व्यञ्जनावग्रह के बाद अर्थावग्रह होता है। जाति, लिंग आदि के निर्देश बिना केवल सामान्य का 'कुछ शब्द है', इस रूप में वस्तु का ग्रहण अर्थावग्रहण कहलाता है। व्यञ्जनावग्रह की अपेक्षा इसमें कुछ स्पष्ट ज्ञान होता है।

४—अर्थावग्रह के बाद ईहा होती है किन्तु बीच में संशय होता है। एक निश्चित विकल्प को न ग्रहण करके अनेक अनिश्चित विकल्पों को ग्रहण करने वाला ज्ञान संशय कहलाता है। जैसे, यह शंख का शब्द है या सितार का।

५—"अनुकूल, मादृश"—"यह होना चाहिए" इस प्रकार का ज्ञान ईहा कहलाता है जैसे,—यह सितार का शब्द होना चाहिए।

६—ईहा के बाद अपोह (अवाय) होता है। "अमुक शब्द सितार का"—"यह वही है" इस प्रकार का ज्ञान अपोह कहलाता है। जैसे,—यह सितार का शब्द है, शंख का नहीं।

७—अपोह के अनन्तर धारणा होती है। "तदेव दृढतमावस्थापन्नो धारणा"—अपोह की दृढतम अवस्थिति धारणा कहलाती है। यहां जो शब्द का सातत्य निर्धार है, वही धारणा है।

(४०)

तद् युष्माभिः पुनरपि पुनः पूरणीयं सयत्नं,
यस्मात्तत्रोपकरणमपि प्राप्स्यते मार्गदर्शि ।
संप्राप्तानां लघु भगवता भोत्स्यते व्यञ्जनं वो,
यन्नोपेक्ष्या ह्युपमतिथयः सङ्गमार्थाः प्रबुद्धैः ॥

(४१)

अग्रे चेतः स्फुरितमधुना भावि युष्मद्-ग्रहाय,
सन्देहानां झटिति वसतिर्लङ्घनीयान्तराला ।
सेहापोहं तदनु भगवांल्लप्स्यते निश्चयं च—
श्चिन्तापूर्वं कृतपरिचया एव सख्यं वहेरन् ॥

शब्दों ! तुम्हें पहले पुनः-पुनः चेष्टा करके उनके (भगवान् के) कान के छिद्र को भरना है। पीछे तुम्हें वहाँ रास्ता दिखाने के लिए उपकरण[१] मिल जाएगा। भगवान् जब तुम्हें पा लेंगे, तब तुम्हारी स्फुट अभिव्यक्ति[२] होगी। यह तो स्पष्ट है कि प्रबुद्ध व्यक्ति मिलने के लिए आये हुए अतिथियों की उपेक्षा नहीं करते।

(४१)

शब्दो ! उसके आगे तुम्हें लिवा ले जाने के लिए भगवान् का मन तुम्हारे सामने[३] आयेगा। उसके साथ चलते हुए बीच में सन्देहों[४] की बस्ती आए, उसे झट लांघ जाना। भगवान्[५] ईहा और अपोह[६] के द्वारा तुम्हें अपना लेंगे। क्योंकि सोच-विचार कर परिचय करने वाले ही मित्रता निभाते[७] हैं।

१—श्रोत्र (कान) इन्द्रिय के दो प्रकार होते हैं :— (१) निर्वृत्ति और उपकरण। कर्ण-शष्कुली (कर्ण की पपड़ी) और कदम्ब के फूल के रूप में जो कान की बाहरी और भीतरी बनावट है, वह निर्वृत्ति-इन्द्रिय कहलाती है। निर्वृत्ति की वह शक्ति जो शब्द सुनने में उपकारक बनती है, उपकरण-इन्द्रिय कहलाती है।

२—यहाँ शब्द-ज्ञान का क्रम बताया गया है। शब्द सुनने में सबसे पहले व्यञ्जनावग्रह होता है। कान (उपकरण-इन्द्रिय) और शब्द का सम्पर्क होने पर पहले-पहल जो अस्पष्ट ज्ञान होता है, उसे व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। जैसे:—कान में शब्द के आने पर कान से किसी चीज का स्पर्श हुआ—ऐसा ज्ञान होना।

३—व्यञ्जनावग्रह के बाद अर्थावग्रह होता है। जाति, लिंग आदि के निर्देश बिना केवल सामान्य का "कुछ शब्द है", इस रूप में वस्तु का ग्रहण अर्थावग्रहण कहलाता है। व्यञ्जनावग्रह की अपेक्षा इसमें कुछ स्पष्ट ज्ञान होता है।

४—अर्थावग्रह के बाद ईहा होती है किन्तु बीच में संशय होता है। एक निश्चित विकल्प को न ग्रहण करके अनेक अनिश्चित विकल्पों को ग्रहण करने वाला ज्ञान-संशय कहलाता है। जैसे, यह शंख का शब्द है या सितार का।

५—"अमुकेन, भाव्यम्"—"यह होना चाहिए" इस प्रकार का ज्ञान ईहा कहलाता है जैसे,—यह सितार का शब्द होना चाहिए।

६—ईहा के बाद अपोह (अवाय) होता है। "अमुक एवाय मित्यवायः"—'यह वही है" इस प्रकार का ज्ञान अपोह कहलाता है। जैसे,—यह सितार का शब्द है, शंख का नहीं।

७—अपोह के अनन्तर धारणा होती है। "सएव दृढ़तमावस्थापन्नो धारणा"—अपोह की दृढ़तम अवस्थिति धारणा कहलाती है। यहां जो स्मृत्य का सातत्य निर्वाह है, वही धारणा है।

(४२)

अक्षज्ञाने क्वचिदथ भवेत् संशयो व्यत्ययो वा,
भावज्ञप्तौ मम न पृथुलस्तेन कार्यः प्रयत्नः।
प्रत्यक्षेण प्रतिकृतिमिमां मानसीं द्रष्टुमिच्छे-
देतत्कृत्वा चतुरविधिभिर्मौनमालम्बनीयम् ॥

(४३)

ध्येयं सैषोऽवगणयति तान् कामिनीनां कटाक्षान्,
येषां क्षेपैः कुटिलगतिभिर्वक्रताऽत्याजि वक्रैः।
तस्माद् रेखा युवतिविषयाः कामना तेजयन्त्यो,
नालेख्या ही चटुलचरणैर्वस्तरङ्गैः सकम्पम् ॥

(४२)

शब्दो ! मेरे अभिप्राय[1] को समझाने के लिए तुम अधिक प्रयास न करना, क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान में संशय और विपर्यय होने की आशंका रहती है। इसलिए उससे कभी सम्यग्-ज्ञान नहीं भी होता है। तुम निपुण हो अतः ऐसा काम करना जिससे भगवान् अपने प्रत्यक्ष ज्ञान (मनः[2] पर्यव ज्ञान) के द्वारा मेरी मानसिक विचार-आकृतियों को जानने की थोड़ी सी चेष्टा कर लें। उसके बाद तुम्हें मौन कर लेना है।

(४३)

स्त्रियों के जिन कटाक्षों के सामने वक्र गतिवाले व्यक्ति भी अपनी वक्रता भूल बैठते हैं, भगवान् उन कटाक्षों की भी अवगणना करते हैं। इसलिए तुम यह ध्यान रखना कि अपनी (शब्दों की) कम्पनशील चंचल तरंगों से कामना (काम) को उत्तेजन दे सके, ऐसे स्त्री सम्बन्धी[3] रेखा-चित्र उनके समक्ष मत खींचना।

१—"विपरीतैककोटिनिष्टङ्कनं विपर्ययः" वस्तु में उसके विरुद्ध किसी एक धर्म का निश्चय करना विपर्यय कहलाता है, जैसे, सीप में चाँदी का निश्चय करना।

२—मानसिक चिन्तन के साथ विचारों की विभिन्न प्रकार की आकृतियां बनती हैं। वे आकृतियां मनोवर्गणा के (मन रूप में परिणत होने वाले) पुद्‌गलों से बनती हैं। इन मानसिक आकृतियों का इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा के द्वारा साक्षात्कार करके दूसरों के मनोगत भावों को जानने वाला ज्ञान मनः पर्यव (मनः पर्याय) ज्ञान कहलाता है।

३—यह विज्ञान सम्मत तथ्य है कि ध्वनियां जमीन पर विभिन्न प्रकार की रेखाएं खींचती हैं।

(४४)

एते शब्दा निशितविशिखा मन्मथस्येति मत्वा,
नोपेक्षेत प्रवर-विरतिः कार्यलग्नांश्च युष्मान् ।
तन्निश्वासा भगवति हि मेऽमोघ-संप्रार्थितायाः,
श्रद्धापट्टं स्फुटमधिगुणं सम्यगाबध्य यात ॥

(४५)

भद्रं भूयात् पथि विचरतां श्रेयसे प्रस्थितानां,
दिग्-व्यामोहं न खलु जनयेत् क्वापि वातः प्रतीपः ।
आशादीपा अभिनवघनाः प्रावृषेण्या द्रवाश्च,
निष्प्रत्यूहाः स्युरिह यदि तत् कः स्मरेद् वासवातम् ॥

(४६)

श्रद्धाश्रूणि प्रकृतिमृदुता मानमोद्घाटनानि,
निःश्वासाश्चाखिलमपि मया स्त्रीधनं विन्ययोजि ।
सानुक्रोशो मयि परमतः सैष भावी नवेति,
सापेक्षाणामपरमपरं स्याज्जगत्तत्परेषाम् ॥

(४७)

ईषत् स्पृष्ट्वा रविरपि नभस्तेजसा हि प्रयाति,
धत्ते स्थैर्यं दिशि-दिशि लपन् विद्युदालोक एषः ।
मूढानश्रांस्तिमिरपतितानुद्धरेत्वाद्य्शः कः,
प्रारम्भोत्का जगति बहवोऽल्पेहि निर्वाहकाः स्युः ॥

(४४)

भगवान् के पास जाकर जब तुम मेरी बात कहने लगोगे, तब कहीं वे उत्कृष्ट त्यागी यह मानकर तुम्हारी उपेक्षा न कर दें कि ये शब्द तो कामदेव के तीखे बाण हैं। इसलिए शब्दों ! मेरी गहरी श्रद्धा का पट्ट भली भांति बांध कर जाओ। जिससे मेरी अभ्यर्थना सफल हो सके।

(४५)

तुम श्रेयस् के लिए प्रस्थान कर रहे हो, तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो और प्रतिकूल वायु तुम्हें दिङ्मूढ़ न बनाए। यदि आशा के दीपक ज्यों के त्यों जलते रहें, वर्षा के मेघ निर्विघ्न बरस जाएं और ध्वनि (सम्बोधन) यथावत् सुनाई दे, तो प्रतिकूल पवन से कौन डरेगा ?

(४६)

शब्दों ! श्रद्धा के आंसू, प्रकृति की कोमलता, हृदय का उद्घाटन (खोलकर रखना) और आहें—यह नारी का वैभव है, सो सब मैं प्रभु के चरणों में समर्पित कर चुकी हूँ। इस स्थिति में भी भगवान् मुझ पर पसीजेंगे या नहीं, नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अपेक्षा रखने वालों का जगत् दूसरा है और निरपेक्षों का दूसरा।

(४७)

सूरज आकाश में थोड़ा सा प्रकाश फैलाकर उसे समेट चला जाता है। समस्त दिशाओं को उद्योतित करने वाले इस विद्युत-प्रकाश में भी स्थिरता कहां है ? ऐसा महापुरुष भी कौन है, जो मूढ़, अज्ञ और अन्धेरे में भटकते हुए व्यक्तियों को हाथ पकड़ कर उबार लें। कार्य प्रारम्भ करने में तो बहुत से व्यक्ति उत्साह दिखाते हैं, किन्तु उसका निर्वाह करने वाले जगत् में कितने होते हैं ?

(४८)

श्रद्धा-सत्ता प्रतिकृतिरलं स्यान्न पूज्यास्पदानाम्,
ते श्रद्धालून् विरहपतितान् प्राणहारं हरेयुः ।
देहःस्थौल्याद् विहरति बहिर्निर्विशेषश्च सौक्ष्म्या-
त्तस्यच्छाया श्रयति विशदान् केवलं ग्राहकान् हि ॥

(४९)

धन्या निद्रा स्मृति-परिस्फुटं निह्नुते या न देयं,
धन्याः स्वप्नाः सुचिरममकृद् ये च साक्षान्नयन्ते ।
जाग्रत्कालः पलमपि न वा त्वाश्च सोढुं सहोऽभू-
च्छ्लाघ्योऽश्लाघ्यः क्वचिदपि न वैकान्तदृष्ट्या विचार्यः ॥

(५०)

नैराश्येन ज्वलति हृदये तापलब्धोद्भवानां,
निःश्वासानां ध्वनिभिरुदितैर्-गाहिरे व्योम-मार्गाः ।
साकाराणि व्यथितमनसश्चक्रिरे वाचिकानि,
नासंभाव्यं किमपि हि भवेद् पूतवंशोदयानाम् ॥

(५१)

आशावल्लया इव ददद्वष्टम्भमुच्चैः पतन्त्या-
श्चित्तं सिञ्चन्निव दृवगतं मन्थरोऽसौ बभूव ।
आरम्भाणां प्रथम चरणे लब्धसंपल्लवानां,
माश्चर्यं यच्छुभशकुनता मान्यतां याति लोके ॥

श्रद्धालु व्यक्तियों के सम्मुख उनकी श्रद्धा से प्रकल्पित श्रद्धेय व्यक्ति का प्रतिबिम्ब भी नहीं रहता, जिस पर वे अपना ध्यान टिकाये रख सकें। बेचारे श्रद्धालु जब श्रद्धेय के विरह से छटपटाते हैं, तब उन्हें आश्वासन देना तो दूर रहा किन्तु वे उनके प्राणों को ही संकट में डाल देते हैं। श्रद्धेय व्यक्ति का शरीर स्थूल है, इसलिए वह बाहर चलता है और सबको दीखता है किन्तु उसकी छाया सूक्ष्म है अतः वह स्वच्छ-ग्राहक में ही प्रतिबिम्बित होती है।

(४९)

भगवन्! निद्रा धन्य है जो तुझे नहीं भूलती, क्योंकि तू स्मृति में सदा बसा रहता है। स्वप्न धन्य है जो पुनः-पुनः तेरा साक्षात्कार करते हैं। किन्तु यह जागृत-काल क्षण भर के लिए भी तुझे न सह सका—तेरा साक्षात्कार न कर सका। अतः किसी भी वस्तु के बारे में एकान्ततः यह कहना संगत न होगा कि अमुक वस्तु श्लाघ्य ही है या अमुक वस्तु श्लाघ्य नहीं।

(जागृत-काल श्लाघ्य गिना जाता है फिर भी वह चन्दनबाला के लिए वरदान न बना जबकि निद्रा, स्वप्न-काल श्लाघ्य नहीं गिना जाता है, फिर भी वह उसके लिए वरदान बना)

(५०)

निराशा से धधकते (चन्दनबाला के) हृदय में संताप द्वारा जो सिसकियां पैदा हुईं, उनकी ध्वनियां आकाश में फैल गईं और उन्होंने (चन्दनबाला के) व्यथा भरे हृदय के सन्देशों को साकार बना दिया। पवित्रता में जन्म पानेवालों के लिए कोई कार्य असंभव नहीं होता।

(५१)

ऊंचे से गिरती हुई आशा-वल्लरी को सहारा देने के लिए या अन्तर्व्यथा के दावानल से सुलगते हृदय को शान्त करने के लिए भगवान् के पैर कुछ धीमे हो चले। कार्य के प्रारम्भ में थोड़ी सी सफलता का मिलना भी संसार में आश्चर्य के साथ शुभशकुन गिना जाता है।

(४८)

श्रद्धा-मूता प्रतिकृतिरलं स्यान्न पूज्ञास्पदानाम्,
ते श्रद्धालून् विरहपतितान् प्राणहारं हरेयुः ।
देहःस्थौल्याद् विहरति बहिर्निर्विशेषश्च सौक्ष्म्या-
त्तस्यच्छाया श्रयति विशदान् केवलं ग्राहकान् हि ॥

(४९)

धन्या निद्रा स्मृति-परिधृतं निह्नुते या न देवं,
धन्याः स्वप्नाः सुचिरमपकृद् ये च साक्षान्नयन्ते ।
जाग्रत्कालः पलमपि न वा त्वाश्च मोढुं महोऽभू-
च्छ्लाघ्योऽश्लाघ्यः क्वचिदपि न वैकान्तदृष्ट्या विचार्यः ॥

(५०)

नैराश्येन ज्वलति हृदये तापलब्धोद्भवानां,
निःश्वासानां ध्वनिभिरुदितैं-र्गाहिरे व्योम-मार्गाः ।
साकाराणि व्यथितमनसश्चक्रिरे वाचिकानि,
नामंभाव्यं किमपि हि भवेद् पूतवंशोदयानाम् ॥

(५१)

आशावल्ल्या इव ददद्वष्टम्भमुच्चैः पतन्त्या-
श्चित्तं क्षिश्नन्निव द्रवगतं मन्थरोऽसौ बभूव ।
आरम्भाणां प्रथम चरणे लब्धसंपल्लवानां,
माऽश्चर्यं यच्छुभशकुनता मान्यतां याति लोके ॥

श्रद्धालु व्यक्तियों के सम्मुख उनकी श्रद्धा से प्रकल्पित श्रद्धेय व्यक्ति का प्रतिबिम्ब भी नहीं रहता, जिस पर वे अपना ध्यान टिकाये रख सकें। बेचारे श्रद्धालु जब श्रद्धेय के विरह से छटपटाते हैं, तब उन्हें आश्वासन देना तो दूर रहा किन्तु वे उनके प्राणों को ही संकट में डाल देते हैं। श्रद्धेय व्यक्ति का शरीर स्थूल है, इसलिए वह बाहर चलता है और सबको दीखता है किन्तु उसकी छाया सूक्ष्म है अतः वह स्वच्छ-ग्राहक में ही प्रतिबिम्बित होती है।

(४९)

भगवन्! निद्रा धन्य है जो तुझे नहीं भूलती, क्योंकि तू स्मृति में सदा बसा रहता है। स्वप्न धन्य है जो पुनः-पुनः तेरा साक्षात्कार करते हैं। किन्तु यह जागृत-काल क्षण भर के लिए भी तुझे न सह सका—तेरा साक्षात्कार न कर सका। अतः किसी भी वस्तु के बारे में एकान्ततः यह कहना संगत न होगा कि अमुक वस्तु श्लाघ्य ही है या अमुक वस्तु श्लाघ्य नहीं।

(जागृत-काल श्लाघ्य गिना जाता है फिर भी वह चन्दनबाला के लिए वरदान न बना जबकि निद्रा, स्वप्न-काल श्लाघ्य नहीं गिना जाता है, फिर भी वह उसके लिए वरदान बना)

(५०)

निराशा से धधकते (चन्दनबाला के) हृदय में संताप द्वारा जो सिसकियां पैदा हुईं, उनकी ध्वनियां आकाश में फैल गईं और उन्होंने (चन्दनबाला के) व्यथा भरे हृदय के सन्देशों को साकार बना दिया। पवित्रता में जन्म पानेवालों के लिए कोई कार्य असंभव नहीं होता।

(५१)

ऊँचे से गिरती हुई आशा-वल्लरी को सहारा देने के लिए या अन्तर्व्यथा के दावानल से सुलगते हृदय को शान्त करने के लिए भगवान् के पैर कुछ धीमे हो चले। कार्य के प्रारम्भ में थोड़ी सी सफलता का मिलना भी संसार में आश्चर्य के साथ शुभशकुन गिना जाता है।

(५४)

केयं माया व्यरचि विधिना भ्रान्तिराहो प्रवृत्ता,
स्वप्नोऽलोकि क्वचन कुहकं केनचित् प्रस्तुतं वा ।
मोघानेतान् व्यधिषि विकलान् कांश्चिदुच्चैर्विलापान्,
देवः साक्षाद् विहरति पुरः पावनो मां पुनानः ॥

(५५)

प्राप्याऽप्राप्यं प्रथमपलकेऽन्तर्गतानां व्यथानां,
प्रादुर्भावो भवति नियमो नैव जातोऽत्र बन्ध्यः ।
तासां जाता स्मृतिरभिनवा प्रस्तुतानां, गतानां,
वाक् संवृत्ता भगवति पुरस्तादुपालम्भलोला ॥

लौटते हुए भगवान् के रुक जाने से ढाढस मिलने पर भी कुछ देर तक चन्दनबाला के आंसू न रुके। क्योंकि दूध से जला व्यक्ति छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है। उस समय चन्दनबाला की अधीर आंखों के प्रेक्षण (देखने) में अस्थिर—चपल भाव डूब-तैर रहे थे।

(५३)

चन्दनबाला सोचने लगी कि मेरे आंसू और ये निःश्वास के शब्द प्रारम्भ किए हुए कार्य में सफल हो गए। क्योंकि मेरे मानसिक अभिप्राय अभिव्यंजित हो चुके हैं। भाग्य मुझे नई दिशा दे रहा हो, ऐसा लगता है। अकस्मात् यह सर्व चक्षु सूर्य—प्रत्यक्ष ज्ञानी भगवान् मेरे सम्मुख अपनी किरणें बिखेर रहे हैं—चरण बढ़ा रहे हैं।

(५४)

क्या यह कोई विधि का मायाजाल था या मुझे यों ही भ्रम हुआ? मैंने क्या कोई स्वप्न देखा या किसी ने मेरे सम्मुख इन्द्रजाल की सृष्टि कर डाली? क्या मैंने यह इतना विलाप व्यर्थ ही किया, जबकि मेरे इष्टदेव मुझे पावन करने के लिए प्रत्यक्ष खड़े हैं।

(५५)

दुर्लभ वस्तु पाकर पहले क्षण में अन्तर व्यथा छलक पड़ती है। यह नियम चन्दनबाला के लिए अपवाद न बना। उसे वर्तमान और अतीत के कष्टों की स्मृति हो चली। उसकी वाणी भगवान् के सम्मुख उपालम्भ (उलाहने) के स्वर में मुखर हो उठी।

(५६)

राज्यं त्यक्तुं परनृपतिना पारवश्यं प्रणीता,
प्राणान्तोऽपि स्फुटितनयनैरेभिरालोकि मातुः।
वेश्याहर्म्येऽप्यरुचिगमनं प्रापिता विक्रयेण,
विक्रेत्राहं विपणिमरणौ मूल्यमायोजि भूयः

(५७)

यद्वा क्रूरं करचरणयोः शृंखलैरायसैर्हा,
मूर्ति प्राप्ता विकचशिरसि प्रज्वलन्त्यः शलाकाः।
कष्टाश्रूणां सरिति सततं मग्नमास्यं विलोक्य,
त्वां यत्फुल्ल तदपि भगवन्! न त्वया द्रष्टुमिष्टम् ॥ (युग्मम्)

(५८)

गर्भेऽप्यर्भस्त्वमिह भगवन्! मातरश्चानुकम्प्य,
सद्योऽरौत्सीः सहजचलनं लक्ष्म गर्भं गतानाम्।
धाराश्रूणामगमदुदयं सौधमध्ये वरिष्ठा,
को जानीयाज्जगति महतां सान्नयं चेष्टितानि ॥

(५९)

ज्येष्ठभ्रातुर्नयन-सलिलं त्वामरौत्सीद्दिदीक्षुं,
मन्ये जन्माऽभवदिह तव प्रोञ्छितुं वाष्पधाराम्।
वाष्पान् वोढुं किमपि विवशा स्वामिनाऽहं कृतास्मि,
दैवे वक्रे भवति हि जगत् प्राञ्जलश्चापि वक्रम् ॥

(५६-५७)

शत्रु-राजा (शतानीक) ने मुझे राज्य छोड़ने के लिये विवश किया। मैंने इन फूटी आंखों से अपनी मां का प्राणान्त भी देखा। न चाहने पर भी वेश्या के घर मुझे बिक कर जाना पड़ा। इसके बाद बाजार में मुझे फिर से बेचने के लिए मेरी बोली लगाई गई। लोह की जंजीरों से मेरे हाथ-पैर क्रूरता-पूर्वक बांधे गए। मेरा सिर मुण्डित करवाकर उसमें तप्तशलाकाओं से दाग लगाए गए। इस प्रकार दुःख के आंसुओं की नदी में मेरा मुंह डूबा हुआ था। आज वह तुझे देखकर खिला, किन्तु भगवन्! उसे भी तूने देखना न चाहा।

(५८)

भगवन्! तूने माता को पीड़ा न हो, यह देख गर्भ में सहज हलन-चलन भी बन्द कर डाला, जो गर्भस्थ प्राणी का चिन्ह गिना जाता है। उस समय महल में आंसुओं की धाराएं छलक पड़ीं। महापुरुषों की साभिप्राय चेष्टाओं (क्रियाओं) को कौन समझ सकता है?

(५९)

तेरे बड़े भाई (नन्दिवर्धन) के आंसुओं ने तुझे दीक्षा लेने से रोका। ऐसा लगता है कि आंसुओं को पोंछने के लिए ही तेरा जन्म हुआ। किन्तु उनका (आंसुओं का) भार ढोने के लिए तूने मुझे विवश किया। संसार में भाग्य के विपरीत हो जाने पर सीधे भी टेढ़े बन जाते हैं, न रूठने वाले भी रूठ जाते हैं।

(६०)

श्रद्धेयानामधिकृतमिदं चित्रमस्ति प्रभुत्वं,
श्रद्धालूनां विमदशमदा चेतसः सौकुमार्यम् ।
भारं स्फारं वहति यदहो तानुपालब्धुमारा-
दाम्नांश्च प्रति भवति ननु स्विन्नमास्था प्रगल्भम् ॥

(६१)

पीडाकूले जिनवरममौ दीर्घनिःश्वासवात-
क्षिप्तैर्दूरं स्नपयितुमिव प्राभवच्छाकरौघैः ।
यच्छुद्धयानरतिनिरता आक्षिपंयुश्च तत्र,
स्नेहोत्कर्षस्तदिह कृतिभिः सन्ति ते वन्दनीयाः ॥

(६२)

तीव्रं नम्रंकरणमनिलं फाल्गुनं वेगवन्तं,
किं न्यक्कुर्यात् परिणतदला काममारामराजिः ।
तस्मादन्यः परिमलग्रहः पुष्पकालेऽपि न स्याद्,
यस्माद् रंहः सहनमुचितं स्वोदयस्य प्रसिद्ध्यै ॥

(६३)

घोरं तापे सततमवहद् बाष्पधारा विचित्रं,
शैत्ये लब्धे भगवति पुनः सम्मुखीने क्षणेन ।
सा संरुद्धा विरलतनवः केवलं बिन्दवस्ते,
तस्थुर्भिक्षा-ग्रहण-सरणिं स्वामिनो द्रष्टुमुत्काः ॥

(६०)

श्रद्धालु व्यक्तियों का मानस असाधारण सुकुमारता लिए होता है। वह दूर से श्रद्धेय को उलाहने देने के लिए बहुत कुछ सोचता है किन्तु उन्हें अपने समीप पाकर वह श्रद्धा से पसीज जाता है—उन्हें उलाहने देना भूल जाता है। श्रद्धास्पद व्यक्तियों ने ऐसी ही कोई अद्‌भुत प्रभुता फैला रखी है।

(६१)

चन्दनबाला ने अपनी आन्तरिक पीड़ा (नदी) के किनारे पर खड़े भगवान् को लम्बे निःश्वासों की पवन से आंसुओं की बौछार कर नहलाया। श्रद्धालु व्यक्ति कष्टों से ऊबकर श्रद्धेय पर आक्षेप लगाने लगते हैं। उसका कारण स्नेह का उत्कर्ष ही है। इसीलिए मनस्वियों द्वारा श्रद्धालु प्रशंसनीय हैं।

(६२)

पके पत्तों वाले बगीचे फाल्गुन के पतझड़ में तूफान का तिरस्कार नहीं करते। यदि वे तिरस्कार करने लग जाएं तो बसन्त में उनके फूलों को सौरभ कौन फैलाए ? इसलिए अपने अभ्युदय के लिए कहीं अन्याय को सहना भी उचित होता है।

(६३)

जब तक चन्दनबाला के हृदय में घोर ताप (दुःख की गर्मी) था, तब तक निरन्तर आंसुओं की धारा बही, किन्तु भगवान् के सम्मुख आ जाने से ज्योंही वह ताप शीतल हुआ, त्योंही वह धारा भी बन्द हो चली। आंसुओं की केवल वे ही दुबली सी बूँदें बच पाईं, जो भगवान् की भिक्षा लेने की विधि देखने के लिए उत्सुक थीं।

योद्धुं नालं स्वमतिरचिते जीवनस्याध्वनीह,
गर्ताः शैलाः कति च कति वा मोटनानि भ्रमा वा ।
अन्यं कश्चित् व्रजति तनुमानेकमुल्लङ्घ्य पूर्व-
मावर्त तद् भवति सहसा विस्मृतिः प्राक्तनस्य ॥

(६५)

प्रत्येकस्मिन् नियतमुभयोः पार्श्वयोःसन्ति कुम्भाः,
केचित् पूर्णाः प्रवरसुधया हालया भूयस्तु ।
हालोन्मत्ताः प्रथमचरणे ह्यन्यपार्श्वानपेक्षा,
द्वैतीयीकं नयनममलं हन्त नोन्मीलयन्ति ॥

(६६)

उन्मत्तानां दिनमथ निशा नैति कश्चिद्विशेषः,
कार्याकार्ये तनुरपि भिदा नैति तेषां गुणोऽसौ ।
यावच्चक्षुर्भवति पिहितं हालया तावदेषां,
सौख्यं पश्चाद् भवति तिमिरं व्याप्तमक्ष्णोः समन्तात् ॥

(६७)

अम्भोवाहा विघटनमिमे जृम्भणं चापि यान्ति,
वाता ग्रीष्मं दधति वसनं शीतलं जातु तेऽपि ।
भूमिं प्राप्ता अपि जलकणा व्योम-मार्गं श्रयन्ते,
निद्रोन्निद्रा क्रममनुगता केवलं मुद्रितेयम् ॥

स्वयं अपनी बुद्धि द्वारा बनाए हुए जीवन के मार्ग में कितने गड्ढे, पहाड़, घुमाव और चक्कर हैं, इसे कौन जान सकता है। मनुष्य एक आवर्त्त (चक्कर) को लांघ दूसरे आवर्त्त में घुसता है, उस समय पहला आवर्त्त सहसा भुला दिया जाता है।

(६५)

प्रत्येक मार्ग के दोनों ओर घड़े रखे हुए हैं। एक ओर के घड़े अमृत से छलाछल भरे हैं तथा दूसरी ओर के हाला से। हाला के नशे में उन्मत्त बने व्यक्ति पहले ही कदम से हाला की ओर निहारते चले जाते हैं। वे दूसरी ओर निहारने के लिए आंख तक नहीं खोलते।

(६६)

जो हाला के नशे में उन्मत्त हैं, उनके लिए दिन-रात एक सरीखे हैं और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य में कोई भी भेद नहीं—यह उनकी विशेषता है। जब तक उनकी आंखें हाला के नशे में मुंदी रहती हैं, तब तक उन्हें सुख की अनुभूति होती है। इसके आगे उन्हें सारा संसार धुँधला सा लगत है। हाला की दुनिया से आगे भी कोई सुख है, इसकी वे कल्पना भी नहीं करते।

(६७)

बादल बिखरते हैं और मंडराते हैं। हवाएं कभी गरम साड़ी पहनती हैं और कभी ठंडी। जल की बूंदें धरती पर गिरकर फिर आकाश का मार्ग पकड़ती हैं। खिलने के बाद मुरझाना और मुरझाने के बाद खिलना, यह विश्व का क्रम है। किन्तु इस अभागिन को मुरझाने के बाद खिलने का अवसर ही न मिला।

(६८)

यन् मायेषा जगति पुरुषैर्योषितः शक्तिमद्भिः,
सन्ति प्राप्तास्तव इह चिरं भोग्य वस्तुप्रतिष्ठाम् ।
चेतोदार्ढ्यं प्रकृतिसुलभस्त्याग-भावोऽपि तासा-
मेधोभावे व्रजति सततं कामवह्नौ नराणाम् ॥

(६९)

स्त्रीणां प्राणा न खलु विशदं मूल्यमाधारयन्ति,
पुंसां कामा अवितथपथाः स्युर्विधिश्चिन्त्य एषः ।
एषा नारी स्वजनवियुताऽप्याश्रया जीवनस्य,
मूल्यं नीचैर्नयतु बहवो द्रष्टुमित्युत्सुका हि ॥

(७०)

प्रायो लोकः प्रकृतकुशलो नैव कर्त्तव्य-दक्षः,
द्रष्टुं यत्नं सृजति विगतं नैव सम्पद्यमानम् ।
स्त्रीणां भोगक्रियपरिचितत्वेन तत्रैति मोहं,
नासामन्ये प्रकृतिसुलभाः सद्गुणा दृष्टमिष्टाः ॥

(७१)

दग्धोऽस्म्यन्त्यः प्रबलदहने धूपिकेयं प्रभूत—
मेषा म्लानाऽतुलहिमहता वल्लरी चापि जात्या ।
एषा यष्टिः किमपि लुलिता हन्त भारातिरेका—
च्चैतन्यं को हरति न खलूद्बोधयेत् कश्चिदेकः ॥

शक्तिशाली पुरुषों के अधीन रहने के कारण महिलाएं उनकी भोग्य वस्तुएं बनी हुई हैं। उनकी मानसिक दृढ़ता और सहज त्याग-भावना पुरुषों की कामाग्नि में ईन्धन बन रही है।

(६९)

स्त्रियों के प्राणों का कोई विशेष मूल्य नहीं आंका जाता है। पुरुषों की इच्छाएं पूरी होनी चाहिए, यह कैसा विचित्र नियम है। बहुत से पुरुष तो यह चाहते हैं कि नारी अपने परिवार से बिछुड़कर पुरुषों को दासी बन जाए और अपने जीवन का मूल्य नीचे गिराकर पतित बन जाए।

(७०)

लोग प्रायः रूढ़ि पर चलने के अभ्यासी होते हैं किन्तु क्या करना चाहिए—इसे नहीं सोचते। वे अतीत को देखने का प्रयत्न करते हैं पर वर्त्तमान को नहीं। स्त्रियों के भोग से चिर परिचित होने के कारण उनमें उनका आकर्षण होता है, इसलिए वे उनमें मूढ़ बन जाते हैं। किन्तु वे यह नहीं जानते कि उनके सहज-सुलभ गुणों का सम्मान कैसे करना चाहिए ?

(७१)

यह रोटी आग की लपटों में खूब पकी और जल गई। यह अच्छी जाति की बेल पाले से ठिठुर कर कान्ति-विहीन हो गई। यह लकड़ी अधिक भार के लद जाने से किस तरह लुल गई। चैतन्य को कौन नहीं छीनता? किन्तु उसे जगाने वाला तुम्हारे जैसा कोई विरला ही होता है।

(७२)

स्वामिन्नुच्चस्त्वमसि सुतरामग्रहात् प्रस्तराणां,
तेनाद्यन्तं सहजमृदुना त्वां श्रिताभावनानाम् ।
एते शैला अधिकृतशिलाः प्रोच्चिताः मश्चयेन,
मर्त्यान्मानं दधति परुषं मस्तके कृतताश्च ॥

(७३)

अन्धा श्रद्धा स्पृशति च दृशं तर्क एषाऽनृता धीः,
श्रद्धा काञ्चिद् भजति मृदुतां कर्कशस्त्वश्च तर्कः ।
श्रद्धा साक्षाज्जगति मनुते कल्पितामिष्टमूर्ति,
तर्कः साक्षात् प्रियमपि जनं दीक्षते संदिहानः ।।

(७४)

चक्षुर्बाह्यां प्रतिकृतिमिमां पश्यति स्वप्रभाभिः,
संस्थानं सत् सदितरदुत स्वग् मनोज्ञतरा वा ।
श्रद्धैवान्तः प्रविशति नृणां हृद्वशीकार एष,
आत्मा प्राप्यो भवति हि जनैस्तर्कणामस्पृशद्भिः ॥

(७५)

श्रद्धे ! धीरं व्रज भगवतः पार्श्वदेशे मुमुक्षो-
र्बद्धे काये वहसि वसतिं नेति संकल्पनीयम् ।
क्षुद्रे कुम्भे सदपि सलिलं काममाकृष्टमंशो-
र्धाम्नामोघैर्गगनमतुलं व्याप्य किं नाम्बुदःस्यात् ॥

भगवन् ! पत्थर (सोना, चांदी, रत्न आदि) को न रखने के कारण तू ऊँचा है। इसीलिए अथ से इति तक तेरी भावनाएं सुकुमार हैं। ये पहाड़ जो शिलाओं के संग्रह से ऊंचे बने हुए हैं, सर्वतः कठोर हैं और उनकी चोटियां (क्रूर) नुकीली हैं।

(७३)

यह धारणा मिथ्या है कि श्रद्धा अन्धी है और तर्क के आंख है। श्रद्धा सुकुमारता लिए हुए है और तर्क कर्कशता लिए हुए। श्रद्धा में यह विशेषता है कि वह कल्पना द्वारा बनाई हुई अपने श्रद्धेय की मूर्ति को साक्षात् मान लेती है, जब कि तर्क साक्षात् दीखने वाले श्रद्धेय पुरुष को भी सन्देह भरी दृष्टि से देखता है।

(७४)

यह आकृति अच्छी है या बुरी, यह चमड़ी सुन्दर है या असुन्दर—इस तरह आंख अपने प्रकाश से बाहरी रूप को देखती है। श्रद्धा ही मनुष्यों के अन्तरतम में प्रवेश कर पाती है। यह ही हृदय को जीतने के लिए वशीकरण है। तर्क का संस्पर्श न करने वाले व्यक्ति ही आत्मा—वस्तु तत्त्व को पा सकते हैं।

(७५)

श्रद्धे ! तू भली भांति मुमुक्षु भगवान् के पास चली जा। तू शरीर के घेरे में रह रही है, इसलिए इस दुविधा में मत पड़ जाना कि मैं वहाँ कैसे जाऊं ? छोटे घड़े के भी पानी को जब सूर्य की किरणें ऊपर खींच लेती हैं, तब क्या वह अनन्त आकाश में फैलकर मेघ नहीं बन जाता ?

(७६)

आयातोऽपि व्रजति बहुलो याति लोको यथेच्छं,
स्नेहं पीडां स्पृशति न मनो नानुबन्धोऽस्ति यत्र ।
श्रद्धापात्रं जनयति मुदं स्वागतश्चाऽपि गच्छन्,
नादायैव व्रजति हृदयं कः प्रियः कोऽप्रियो वा ॥

(७७)

अद्यायातो व्रजति भगवान् दुःस्थितां मामुपेक्ष्य,
तत् को भावी जगति सुमहान् वत्सलो भक्तलोके ।
मत्-स्वाधारं त्यजति न परं स्वात्मना वस्तुजातं,
तेनानन्तं सुरपथमिदं विद्यते व्यापकश्च ॥

(७८)

कुल्माषा नाऽजनिषत तवैतः प्रतिक्रान्तिहेतुः,
स्वादोनाम स्पृशति न परं त्यक्तदेहस्य जिह्वाम् ।
निःस्वत्वञ्चाप्यभवदिह नो मुक्तसर्वस्वकस्य,
हर्षोत्कर्षोऽभवदिति यतोऽति प्रयोगो निषिद्धः ॥

(७९)

एते तारा वियति विततः सन्ति संप्रेक्षणीया,
येषामायुः क्षणिकमणुकं ज्योतिरास्थानमभ्रम् ।
जीवन्त्येते तदपि यदहो भ्राजमाना अजस्रं,
विच्छायानां न खलु भवति प्रस्तुतं तारकत्वम् ॥

अपनी इच्छा से बहुत से लोग आते हैं, चले जाते हैं। किन्तु जिनके साथ कोई सम्बन्ध न हो, उनके आने से मन को हर्ष और जाने से विषाद का अनुभव नहीं होता। श्रद्धेय व्यक्ति जब सम्मुख आता है, तब हर्ष पैदा करता है और वापस लौटते हुए हृदय को लेकर चला जाता है। समझ में नहीं आता कि दोनों में कौन प्रिय है और कौन अप्रिय ?

(७७)

आज भगवान् आये और मुझ दुखियारी की उपेक्षा करके चले गए। तब जगत् में महान् भक्तवत्सल और कौन होगा ? आकाश अपने आश्रित किसी भी वस्तु को एक क्षण के लिए भी नहीं ठुकराता—सबको आधार (आश्रय) देता है। इसलिए यह व्यापक है और सुरपथ कहलाता है।

(७८)

भिक्षा बिना लिए तू मुड़ा, इसका कारण उबले हुए नीरस उड़द नहीं थे, क्योंकि जिसने शरीर की सार सम्हाल छोड़ रखी है, उसे जीभ का स्वाद छू नहीं सकता। मेरी सर्वस्वहीनता (निर्धनता) भी तेरे मुड़ने का कारण न थी क्योंकि संसार की सब वस्तुओं से तूने मुंह मोड़ रखा है। ऐसा लगता है कि मेरे हर्ष का अतिरेक ही तेरे मुड़ने का कारण बना। क्योंकि अति प्रयोग सर्वत्र निषिद्ध है।

(७९)

ये दर्शनीय तारे आकाश में फैले हुए हैं। इनका जीवन क्षणिक है, इनमें हलकी सी ज्योति है, शून्य में इन्हें रहना पड़ता है, फिर भी ये निरन्तर चमकते हुए जी रहे हैं। जिनमें चमक न हो, वे वस्तुतः तारे नहीं होते।

नान्तः प्रेक्षा विकचनयनेऽप्यामयोऽसौ विमंशः,
कुम्भं पश्यन्नमृतममलं तद्‌गतं नेक्षतेऽपि ।
नृत्नः प्रत्नो व्रजति च लयं व्यश्नुते तद्‌गतं तन्,
स्थायी प्रेयान् न भवति यतश्चञ्चलप्रेक्षणानाम् ॥

(८१)

यां मन्येऽहं सदयहृदयां मातरं निश्छलात्मा,
सा मामेवं नयति भगवन् ! निग्रहं मन्तु-बुद्धया ।
कश्चित् क्रूरो ग्रह इव परिक्रामतीति प्रभाते,
चित्रं प्राचीं स्पृशति तरणी नाधुनाप्यस्तमेति ॥

(८२)

एषा श्रद्धा नृपति-दुहिता नेति किञ्चिद् विचित्रं,
एषा श्रद्धा त्वयि कृतमतिश्चित्रमेतद् विशिष्टम् ।
भावोद्रेकं लघु गतवती विस्मृतात्मा बभूव,
सा का श्रद्धा न खलु जनयेद् विस्मृतिं स्थूलतायाः ॥

(८३)

स्वर्णाभूषा किमपि न चिरादायसी शृंखलाऽभू-
च्छीर्षे श्यामाः सुविकचकचाः प्रोद्‌गमं लब्धवन्तः ।
मन्ये रूपं विकृतमकृतं जातमस्याः क्षणेन,
यन्न श्रद्धाविरचितमहो गाहनीयं विकल्पैः ॥

आंखें खिल रही हैं, किन्तु इनमें अन्तर्ज्योति नहीं—यह कोई नया ही (बिना नाम वाला) रोग है। मनुष्य घड़े को देख लेता है, किन्तु उसमें भरे अमृत को नहीं देख पाता। घड़ा (शरीर) नया, पुराना होता है और बाद में फूट (मर) जाता है। उसमें रहने वाला अमृत (आत्मा) दूसरा स्थान खोज लेता है। क्योंकि बहिर्दर्शी का प्रेय कभी स्थिर नहीं होता।

(८१)

भगवन् ! जिसे (धन सेठ की पत्नी मूला को) मैं निश्छल भाव से कोमल हृदय वाली माता समझती थी, उसने भी मुझे अपराधिन मानकर इस प्रकार बन्दी बना दिया। ऐसा लगता है कि कोई क्रूर ग्रह मेरे चारों ओर चक्र लगा रहा है, जो प्रभात में सूर्योदय होने पर भी अभी अस्त नहीं हो रहा है।

(८२)

यह (मैं) राजा की बेटी बन्दी बनी हुई है, इसमें कोई अचरज नहीं। किन्तु अचरज इस बात का है कि तुम में निष्ठा—श्रद्धा रखने वाली बन्दी बनी हुई है। यह कहती-कहती वह ऐसी श्रद्धा-विभोर बनी कि पिछली सब बातें (दुःख-दर्द) भूल गई। वह क्या श्रद्धा ? जो स्थूल दुःख-दर्द को भी न भुला सके।

(८३)

चन्दनबाला के शरीर पर जो लोह की जंजीरें थीं, वे तत्क्षण सोने के आभूषण बन गई। उसके मुंडित शिर पर चमकीले काले केश उग आए। उसका विकृत रूप क्षण भर में बदल गया—सुन्दर व आकर्षक बन गया। यह सब श्रद्धा का प्रभाव था, जिसे तर्क द्वारा जाना नहीं जा सकता।

चक्षुर्युग्मं भवति सुभगैः क्षालितं यस्य वाष्पै-
स्तस्यैवान्तःकरणसहजा वृत्तयः प्रेरयेयुः ।
पल्याः कोष्णैः श्वसनपवनैरश्रुधाराभिषिक्तै-
र्धन्येनाऽहो भवजलनिधेर्दुस्तरं वारि तीर्णम् ॥

(८५)

मूका पृथ्वी स्थगनमनिलाः प्रापुराशङ्कितोऽभूद्,
भानुर्मौनं गगनमभजद् ह्रीतुमाम्यं दिशोऽक्षि ।
एते भावा अजनि-निधनाः साक्षिणः सन्ति नित्यं,
दृष्टाः शक्तैः प्रकृतिविवला शोष्यमाणा अमीभिः ॥

(८६)

शोषं पृथ्वी नयति पवनो वा द्रवं तापनोऽपि,
व्योम्ना दिग्भिर्भुवनमखिलं स्वोदरे क्वापि नीतम् ।
वाणीमस्या अवितथपथां प्रस्तुतां स्वामिनोऽग्रे,
नाद्‌वातुं ते प्रकृतिविवशा लेभिरे वाचमर्हाम् ॥

(८७)

भक्त्युद्रेकात् स्मृतिमपि तनुं नाप्यकार्षीत् क्षुधाया,
वाञ्छापूर्त्यै सघनमनसा स्थैर्यमालम्बि तस्याः ।
सन्देहेनाऽनुपलमुदयं गच्छताऽभूच्छ्लथा वाक्,
सर्वे सूक्ष्माः परमगुरुताऽभूत् प्रतीक्षा-क्षणानाम् ॥

जिसकी आंखें पवित्र आंसुओं से पखारी हुई हों, उसी के अन्तःकरण की सहज वृत्तियां औरों को जगा सकती हैं। आश्चर्य है, धन्य सेठ अपनी पत्नी (शालिभद्र की बहन सुभद्रा) के आंसुओं की धार से भींगी हुई श्वास की कुनकुनी पवन से दुस्तर भव-सागर तर गया।

(८५)

पृथ्वी मूक थी, हवाएँ बन्द थीं, सूर्य आशंकित था, आकाश मौन था और दिशाएँ मुंह छिपाने की टोह में थीं। ये सब ध्रुव पदार्थ (अनादि निधन—आदि अन्त रहित) इस बात के साक्षी हैं और स्वयं इन्होंने देखा भी है कि संसार में समर्थ (सत्तावान्) व्यक्तियों ने निर्बलों का शोषण किया है।

(८६)

पृथ्वी, हवा और सूर्य द्रव वस्तु को सोखते हैं। आकाश और दिशाओं ने सारे संसार को अपने उदर में छुपा रखा है। भगवान् के सामने रखी हुई चन्दनबाला की इस यथार्थ घोषणा को चुनौती देने के लिए इनके (पृथ्वी आदि शोषकों के) पास कोई उचित शब्द न थे, क्योंकि वे अपनी आदत से लाचार थे—शोषण छोड़ना नहीं चाहते थे।

(८७)

भक्ति के उद्रेक से चन्दनबाला को भूख तनिक भी याद नहीं आ रही थी। उसका मन अन्यान्य विषयों से सिमट कर अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए स्थिर हो गया था। भगवान् कहीं दान लिए बिना मुड़ न जाएं—इस प्रकार के क्षण-क्षण में पैदा होने वाले सन्देह से उसकी वाणी श्लथ सी हो चली। उसकी और सब चीजें सिमट गईं—सूक्ष्म बन गईं; किन्तु उसके लिए प्रतीक्षा के क्षण बहुत बड़े बने जा रहे थे कि भगवान् कब मेरे हाथ से भिक्षा स्वीकार करें।

आपातेष्टं भवति बहुधाऽनिष्टमन्ते जनानां,
पूर्वानिष्टं किमपि फलतः स्याद् विशिष्टार्थसिद्ध्यै ।
दानोत्साहः क्षण-परिणतोऽजायतापूर्वकोऽस्या,
यत्रापूर्वाशय-परिणतिर्दुर्लभं तत्र किं स्यात् ॥

(८९)

आस्थाबन्धं लघु विदधतौ दार्ढ्यभूमि-प्रतिष्ठं,
हस्तौ शस्तौ यतिगणपतेः प्रस्तुतौ भिक्षितुं तौ ।
याभ्यां मासाः षडिव दिवसैः पञ्चभिः काममूना,
भिक्षातीताः सजलमशनं यापिता विस्मरद्भ्याम् ॥

(९०)

एतौ पाणी सुचिरतपसा कार्श्यमायातवन्तौ,
माषान् वोढुं किमिह गुरुकान् शक्यतश्चापि शक्तौ ।
चिन्तामेतां मनसि दधती विस्मृतिं साऽथ निन्येऽ-
न्त्राणि व्यक्तं स्पृशति हृदयं यन्न गूढं कदाचित् ॥

(९१)

अर्थाः केचिद् ददति सुमहत् किञ्चिदादाय पुण्याः,
केचिद् दत्वाऽपि च न ददते व्यत्ययोऽसौ विधीनाम् ।
तत् पाणिभ्यां विनय-विशदं वस्तु लब्ध्वा नगण्यं,
वस्तुव्रातैः प्रतिफलतया स्वामिनादाप्यगण्यम् ॥

(८८)

कुछ वस्तुएं प्रारम्भ में बहुत सुहावनी होती हैं, किन्तु अन्त में उनका परिणाम अच्छा नहीं होता। कुछ वस्तुएं पहिले सुहावनी नहीं लगतीं, किन्तु उनका परिणाम किसी विशिष्ट उद्देश्य की सीद्धि के लिए होता है। चन्दनबाला को दान देने का उत्साह कुछ प्रतीक्षा करने के कारण ऐसा बढ़ चला, जैसा पहले कभी नहीं बढ़ा था। जब भावना में विशिष्ट उद्रेक आता है, तब कोई भी चीज दुर्लभ नहीं रह पाती।

(८९)

भगवान् महावीर के वरद हाथ चन्दनबाला के आस्था-बन्ध (गाँठ) को दृढ़ करते हुए भिक्षा लेने के लिए आगे बढ़े। जिन्होंने पांच महीने और पच्चीस दिन बिना भिक्षा लिए बिताए, मानों वे अन्न, जल को भूल गए हों।

(९०)

बहुत तपस्या करने से भगवान् के सुदृढ़ हाथ कृश हो गए हैं, इसलिए क्या वे उड़द के भोजन का भारी बोझ उठा सकेंगे? चन्दनबाला ने भगवान् को भोजन देते समय उनके हाथों की चिन्ता तो कर ली, किन्तु ऐसा सोचते वह आंतों को भुल गई कि वे तपस्या से कितनी कमजोर हो गई हैं और इस दुष्पाच्य भोजन को भला पचा सकेंगी? व्यक्त वस्तु हृदय को सहसा छू लेती है, किन्तु अव्यक्त वस्तु उस तक पहुंच नहीं पाती।

(९१)

कुछ एक अच्छी वस्तुएँ थोड़ा सा लेकर बहुत सा देती हैं और कुछ एक वस्तुएं बहुत लेकर भी कुछ नहीं देतीं—यह प्रकृति का विचित्र नियम है। भगवान् ने चन्दनबाला के हाथों से विनयभूत नगण्य (साधारण) वस्तु लेकर उसे प्रतिफल के रूप में ऐसी वस्तु दी, जिसकी अन्य वस्तुओं से तुलना ही नहीं की जा सकती।

(६२)

पाणी दात्र्याः प्रमद-विभव-प्रेरणात्कम्पमानौ,
स्निग्धौ यत्रापि व्यथितपृषता मापपूर्वं वहन्तौ।
आदातुस्तौ दृढतमबलात् सुस्थिरौ सानुकम्पौ,
सद्योऽकाष्टाँ हृदयसजलौ सूर्पमापान् वहन्तौ ॥

(६३)

सद्योजातं स्थपुटमखिलं प्रांगणं रत्नवृष्ट्या,
शुल्यद्‌बन्धं गगनपटलं जातमेतत् प्रतीतम्।
तर्कक्षेत्रं भवतु सुतरामेष योगानुभाव-
स्तद्भाग्याभ्रे रविरुद्‌गमत् स्वष्टमद्याऽपि तत्तु ॥

(६४)

गाढामिच्छां बहुलसमयेऽपि प्रयत्नैरपूर्णां,
ये जानन्ति स्वमतिरचितां ताड़ितां क्रूरविघ्नैः।
तेऽर्हा अत्रानुभवितुमिमां वेदनां चन्दनाया-
स्तीव्रान् यत्नांल्लघु-विसृमरां चेतसोऽधीरताञ्च ॥

(६५)

प्राप्तेष्टानां प्रभवति मतौ कोप्यपूर्वः प्रमोद-
स्तस्मिन् भग्ना अपि सुपटवः प्रस्मरन्तीति दुःखम्।
प्रस्मृत्यैतन्निकृति-कुटिलं कः सुखं प्राप लोके,
दुःखे यस्य स्मृतिरविकला तेन तच्चीर्णमाशु ॥

उड़द के छाज को उठाते हुए, हर्षातिरेक से कांपते हुए और व्यथा की बूंदों से कहीं भीगे हुए, दान देने वाली चन्दनबाला के हाथों से आदाता (भगवान्) के दृढ़तम बल से शिशर और दयालु हाथों को हृदय की भांति सजल और छाज के उड़द को उठाने वाला बना दिया।

(आशय यह है कि दान देने के पूर्व उड़द का छाज चन्दनबाला के हाथों में था और दान देने के पश्चात् छाज के उड़द भगवान् के हाथों में आ गए)

(९३)

चन्दनबाला के घर का आंगन रत्नों की बरसात से उबड़-खाबड़ सा हो गया। आकाश के बन्धन टूट पड़े हों, ऐसा लगता था। यह योग का प्रभाव तर्क का विषय हो सकता है किन्तु उसके (चन्दनबाला के) भाग्याकाश में जिस सूर्य का उदय हुआ, (भगवान् ने तीर्थंकर होने के बाद उसे अपनी साध्वीसंघ की प्रमुखा बनाया) वह तो आज भी स्पष्ट है।

(९४)

अपने अन्तर में जगी हुई तीव्र इच्छा, जो क्रूर विघ्नों से प्रताड़ित होकर तरह-तरह के प्रयत्न करने के बावजूद भी बहुत समय तक अपूर्ण रही हो—उसे जो जानते हैं वे ही चन्दनबाला की इस वेदना को, उसके तीव्र प्रयत्नों को और चित्त में शीघ्र फैल जाने वाली अधीरता को जान सकते हैं।

(९५)

प्रिय वस्तु के पा जाने पर मन में एक अपूर्व उल्लास प्रकट होता है। उसकी अनुभूति में बड़े-बड़े विचक्षण भी दुःख भुला देते हैं। किन्तु इस कुटिल दुःख को भूल कर संसार में किसने सुख पाया ! जिसे दुःख पल-पल में याद रहा, वही, इसका पार पा सका है।

(९६)

दुःखस्याङ्को द्रवकृपता द्रावयेयुः परांस्ते,
नैतच्चित्रं भवति परुषः कोऽपि तद्वान् विचित्रम् ।
अस्याश्चेतो विसदृक्षतमं सौकुमार्यं बभाज,
तस्थौ दीर्घं समयमतुलं यत् कठोरं निसर्गात् ॥

(९७)

छिन्नो बन्धः करचरणयोर्नात्मनः किन्तु गूढः,
सौन्दर्यं तद् वपुषि हसितं प्राक्तनं नात्मनस्तु ।
धारा सृष्टा सकरुणदृशोः स्रोतसो नाऽसुखानाम्,
पश्यन्त्यूर्ध्वं पलमपि न सा निम्नभावेषु मूढा ॥

(९८)

पक्वान्नानि प्रचुर-विभवे भुक्तपूर्वाणि राज्ये,
नानाहारश्चरण-पदवीं सेवमानस्य जातः ।
स्निग्धा दृष्टेर्नवजलकणैर्हृद्व्यथासंप्रसूतै-
र्याप्युच्चैः स्मरणविषयाः केवलं सन्ति भावाः ॥

(९९)

भारं प्राप्य प्रकट-विपदां स्नेहभाजां वियोगं,
चिन्ताज्वालं वहति बहुधा वाष्पधारा बहूनाम् ।
क्षुत्-क्षामायाः कथमपि घसेरग्रहाद् भिक्षुणाहि,
श्रद्धाढ्याया नयन-सलिलं स्मार्यमद्यापि भूयः ॥

(९६)

आंसू की बूंदे दुःख का चिह्न हैं। वे बूंदें दूसरे व्यक्तियों को द्रवित कर दें, यह कोई आश्चर्य नहीं है। किन्तु आश्चर्य यह है कि दुःखी होने पर भी व्यक्ति आंसू न बहाएं। चन्दनबाला का हृदय जो लम्बे समय तक दुःख सहने के लिए स्वभाव से कठोर बना रहा, वह आज असाधारण सुकुमार बन गया।

(९७)

हाथ और पैर के बन्धन टूटे, किन्तु आत्मा का बन्धन नहीं टूटा, वह तो अब भी मजबूत बना हुआ है। शरीर पर पहले जैसा सौन्दर्य निखर उठा, किन्तु आत्मा का सौन्दर्य अब भी नहीं निखरा। करुणापूर्ण आंखों के आंसुओं की धार पोंछी गई, किन्तु दुःख का स्रोत अब भी नहीं सूखा। चन्दनबाला इस ऊर्ध्व दर्शन द्वारा निम्न भाव (आंगन में बरसे हुए रत्नों के ढेर) में आसक्त न बनी।

(९८)

भगवान् ने अपने समृद्ध राज-घराने में बहुत सी मिठाइयां खाईं। दीक्षा लेने के बाद भी बहुत तरह का भोजन किया, किन्तु लोग इन्हें नहीं जानते। वह उड़द का भोजन आज भी लोगों के लिए स्मरणीय बना हुआ है, जो चन्दनबाला की हृदय-व्यथा से टपके हुए आंखों के आंसुओं से आर्द्र था।

(९९)

बड़ी भारी विपत्तियों का बोझा आ पड़ने पर, प्रिय जनों का वियोग होने पर और चिन्ता खड़ी होने पर बहुत से लोगों के आंखों से अश्रुधारा छलक पड़ती है—उसे कौन याद रखता है। किन्तु तीन दिनों की भूख से दुर्बल पर श्रद्धाढ्य चन्दनबाला के आंसू आज भी स्मरणीय हैं, जो एक भिक्षु (भगवान् महावीर) के द्वारा भिक्षा न लेने के कारण निकल पड़े थे।

(१००)

जाता यस्मिन् सपदि विफला हावभावा वसानां,
कामं भीमा अपिच महतां कष्टपूर्णाः प्रयोगाः ।
तस्मिन् स्वस्मिल्लयमुपगते वीतरागे जिनेन्द्रे,
मोघो जातो महति सुतरामश्रुवीणा-निनादः ॥

(१०१)

तेरापन्थः सुविहितगणो मातृभूरस्ति यस्य,
भिक्ष्वाद्यार्यै विमलमतिभि-र्नीयमानः प्रकर्षम् ।
रोहं कालोः प्रचर-तुलसी यं फलाढ्यं करोति,
सोऽहं धन्यो मुनिनथमलः काव्य-लीलामकार्षम् ॥

(१००)

अपने स्वभाव में लीन, महान् वीतराग जिनेन्द्र, भगवान् (महावीर) के पास कामिनियों के हाव-भाव (अङ्ग-चेष्टाएँ) और देवताओं के भीषण उपसर्ग भी असफल रहे, किन्तु चन्दनबाला की अश्रुबों की ध्वनि भली-भांति सफल बन गई—उसने अपना इष्ट साध लिया।

(१०१)

जिस आचारनिष्ठ सन्तों के गण—तेरापन्थ को उज्जवल-मति-सम्पन्न भिक्षु आदि नौ आचार्यों ने उन्नत बनाया, वह जिसकी मातृभूमि है, आचार्य श्री कालूगणि ने जिसे अङ्कुरित किया, आचार्य श्री तुलसी जिसे फल-समृद्ध बना रहे हैं, वह मैं मुनि नथमल, इस काव्य का सर्जन कर अपने को धन्य मानता हूं।


समाप्तम्